जैन सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला

(भाग-6)

लेखन एवं सङ्कलन :
पण्डित कैलाशचन्द्र जैन

प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षुमण्डल, देहरादून
एवं
पण्डित कैलाशचन्द्र जैन परिवार, अलीगढ़

ॐ

॥ परमात्मने नमः ॥

पण्डित कैलाशचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, पुष्प-6

जैन सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला

(भाग-6)

जिनागम से चयनित अनमोल वचनामृत;
द्रव्यसंग्रह प्रश्नोत्तरी एवं समाधि-मरण का स्वरूप

लेखन एवं सङ्कलन :
पण्डित कैलाशचन्द्र जैन
'विमलांचल', हरिनगर, अलीगढ़ (उ०प्र०)

प्रकाशक :
श्री दिगम्बर-जैन मुमुक्षुमण्डल, देहरादून
एवं
पण्डित कैलाशचन्द्र जैन परिवार, अलीगढ़

पाँचवाँ संस्करण : 1100 प्रतियाँ (सम्पादित)
(दशलक्षण महापर्व के पावन अवसर पर प्रकाशित, मंगलवार, 03 सितम्बर 2019)

मूल्य -

— मुमुक्षुता की प्रगटता अथवा भावना/संकल्प ही
इस पुस्तक का उचित मूल्य है।

Available At -

— **TEERTHDHAM MANGALAYATAN**
Aligarh-Agra Road, Sasni-204216, Hathras (U.P.)
www.mangalayatan.com; info@mangalayatan.com

— **TEERTHDHAM CHIDAYATAN**
Dusari Nasiyan se Aage, Hastinapur, Distt. Meerut-250404 (U.P.)
Shri Mukeshchand Jain, Mob, 9837079003

— **SHRI KUNDKUND KAHAN DIG. JAIN SWADHYAY MANDIR**
29, Gandhi Road, Dehradun-248001 (Uttarakhand)
Ph. : 0135 - 2654661 / 2623131

— **AZAD TRADING COMPANY**
Jain Mandir ke Neeche, Lal Kauyan, Bulandshahar-203001 (U.P.)
Ph. : 9897069781

— **SHREE KUNDKUND-KAHAN PARMARTHIK TRUST**
302, Krishna-Kunj, Plot No. 30,
Navyug CHS Ltd., V.L. Mehta Marg,
Vile Parle (W), Mumbai - 400056
e-mail : vitragva@vsnl.com / shethhiten@rediffmail.com

टाइप सेटिंग :
मङ्गलायतन ग्राफिक्स, अलीगढ़

मुद्रक :
देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर

प्रकाशकीय

जगत के सब जीव सुख चाहते हैं और दु:ख से भयभीत हैं। सुख पाने के लिए यह जीव, सर्व पदार्थों को अपने भावों के अनुसार पलटना चाहता है, परन्तु अन्य पदार्थों को बदलने का भाव मिथ्या है, क्योंकि पदार्थ तो स्वयमेव पलटते हैं और इस जीव का कार्य, मात्र ज्ञाता-दृष्टा है।

सुखी होने के लिए जिनवचनों को समझना अत्यन्त आवश्यक है। वर्तमान में जिनधर्म के रहस्य को बतलानेवाले अध्यात्मपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी हैं। ऐसे सतपुरुष के चरणों की शरण में रहकर हमने जो कुछ सीखा, पढ़ा है, उसके अनुसार पण्डित कैलाशचन्द्रजी जैन (बुलन्दशहर) द्वारा गुंथित जैन सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला के सातों भाग, जिनधर्म के रहस्य को अत्यन्त स्पष्ट करनेवाले होने से चौथी बार प्रकाशित हो रहे हैं।

इस प्रकाशन कार्य में हम लोग अपने मण्डल के विवेकी और सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को पहचाननेवाले स्वर्गीय श्री रूपचन्दजी, माजरावालों को स्मरण करते हैं, जिनकी शुभप्रेरणा से इन ग्रन्थों का प्रकाशनकार्य प्रारम्भ हुआ था।

हम बड़े भक्तिभाव से और विनयपूर्वक ऐसी भावना करते हैं कि सच्चे सुख के अर्थी जीव, जिनवचनों को समझकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करें। ऐसी भावना से इन पुस्तकों का चौथा प्रकाशन आपके हाथ में है।

इस छठवें भाग में जिनागम के सारभूत तात्पर्यस्वरूप बत्तीस विषयों का, अनेक आगम उद्धरणोंसहित समायोजन किया गया है। साथ ही परिशिष्ट के रूप में सत्तास्वरूप ग्रन्थ से संकलित, चार प्रकार की

इच्छाओं पर प्रश्नोत्तर; द्रव्यसंग्रह गाथा 1 से 14 तक प्रश्नोत्तर एवं अन्त में समाधिमरण के स्वरूप पर प्रश्नोत्तर लिये गये हैं, जो प्रत्येक आत्मार्थी के लिये गम्भीरता से अनुशीलन के योग्य हैं।

हमारे उपकारी आदरणीय पण्डित कैलाशचन्द्रजी के जन्म-शताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में, तीर्थधाम मङ्गलायतन में आयोजित **मङ्गल समर्पण समारोह** के अवसर पर यह सम्पादित संस्करण प्रकाशित किया गया था, जिसका मुमुक्षु समाज में अत्यन्त समादर हुआ और शीघ्र ही इसकी सभी प्रतियाँ समाप्त हो गयीं, फलस्वरूप सम्पादित संस्करण का यह दूसरा संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है, इसका हमें हर्ष है। प्रस्तुत ग्रन्थ को सुव्यवस्थित सम्पादितरूप में उपलब्ध कराने का श्रेय पण्डितजी के सुपुत्र श्री पवन जैन, अलीगढ़ एवं पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां को है। तदर्थ मण्डल की ओर से आभार व्यक्त करते हैं।

सभी जीव इस भाग में समाहित निश्चय-व्यवहार का सम्यक् स्वरूप समझकर, पक्षातिक्रान्त होकर स्वरूपानुभूति प्राप्त करें - यही भावना है।

03 सितम्बर 2019
दशलक्षण महापर्व के
पावन अवर पर प्रकाशित

निवेदक
दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल
देहरादून

भूमिका

वीतरागी जिनेन्द्र परमात्मा की ॐकारमयी दिव्यध्वनि का पावन प्रवाह, गुरु परम्परा से अनेकों वीतरागी सन्तों के द्वारा हमें प्राप्त है, जो हमारा परम सौभाग्य है। स्वरूपगुप्त वीतरागी सन्तों ने जगत के जीवों पर करुणा करके, आत्मानुभूति का सरल एवं सुबोध मार्ग जगत के जीवों के हितार्थ प्रकाशित करने हेतु अनेक ग्रन्थों की रचना की है। उन ग्रन्थों में आत्मकल्याण के लिये भरपूर सामग्री उपलब्ध है। इस छठवें भाग में, बत्तीस आत्महितकारी विषयों का अनेकों आगमप्रमाण के साथ संकलन किया गया है। साथ ही पण्डित भागचन्द छाजेड़ द्वारा रचित सत्तास्वरूप शास्त्र में समागत चार प्रकार की इच्छाओं पर प्रश्नोत्तर बनाकर प्रस्तुत किये हैं। श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव द्वारा रचित द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ की गाथा 1 से 14 तक के प्रश्नोत्तर भी इसमें दिये गये हैं एवं पण्डित गुमानीराम द्वारा रचित समाधिमरण का स्वरूप, अत्यन्त उपयोगी होने से प्रश्नोत्तरों के रूप में इस भाग में सम्मिलित किया गया है।

इस छठवें भाग के पूर्व संस्करण में उभयाभासी मिथ्यादृष्टि प्रकरण के प्रश्नोत्तर, इस संस्करण में तीसरे भाग में सम्मिलित किये गये हैं। प्रत्येक आत्मार्थी बन्धु से निवेदन है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में समायोजित विषयों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन-मनन, चिन्तवन स्वलक्ष्य से करते हुए आत्मकल्याण के मार्ग में आगे बढ़े।

यहाँ यह विशेष उल्लेखनीय है कि वर्तमान दिगम्बर जैन समाज में उक्त समस्त विषयों की चर्चा का उदय पूज्य गुरुदेवश्री की अध्यात्म क्रान्ति से ही हुआ है। पूज्य गुरुदेवश्री ने अपने प्रवचनों में जैन सिद्धान्तों का आत्महितकारी स्वरूप स्पष्ट करते हुए निरन्तर आत्मकल्याण की

पावन प्रेरणा भी प्रदान की है। इस उपकार के लिये पूज्य गुरुदेवश्री के चरणों में सादर वन्दन समर्पित करता हूँ।

पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन एवं समादरणीय श्री रामजीभाई दोशी, श्री खीमचन्दभाई सेठ की कक्षाओं के समय ही मैं इन विषयों को प्रश्नोत्तररूप से आत्महितार्थ लिखता रहा हूँ, जिसे देहरादून मुमुक्षु मण्डल ने अब तक तीन बार प्रकाशित किया है। अब यह चौथा संस्करण मेरी भावना के अनुरूप सम्पादित होकर प्रकाशित किया जा रहा है, जिसकी मुझे प्रसन्नता है।

हे जीवों! यदि आत्महित करना चाहते हो तो समस्त प्रकार से परिपूर्ण निज आत्मस्वभाव की रुचि और विश्वास करो। देहादि से सर्वथा भिन्न ज्ञानस्वरूप निज आत्मा का निर्णय करना ही सम्पूर्ण जिनशासन का सार है क्योंकि जो जीव, देहादि से भिन्न ज्ञान–दर्शनस्वभावी आत्मा का आश्रय लेते हैं, वे मोक्षमार्ग प्राप्त कर मोक्ष को चले जाते हैं और जो देहादि में ही अपनेपने का श्रद्धान–ज्ञान–आचरण करते हैं, वे चारों गतियों में घूमकर निगोद में चले जाते हैं।

सभी जीव इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किये गये प्रश्नोत्तरों का बारम्बार अभ्यास करके आत्महित के मार्ग में प्रवर्तमान हों – इसी भावना के साथ–

पण्डित कैलाशचन्द्र जैन
अलीगढ़

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी
(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारत की वसुन्धरा, अनादि से ही तीर्थङ्कर भगवन्तों, वीतरागी सन्तों, ज्ञानी-धर्मात्माओं एवं दार्शनिक / आध्यात्मिक चिन्तकों जन्मदात्री रही है। इसी देश में वर्तमान काल में भगवान ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीर तक चौबीस तीर्थङ्कर हुए हैं। वर्तमान में भगवान महावीर के शासनकाल में धरसेन आदि महान दिगम्बर सन्त, श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य आदि महान आध्यात्मिक सन्त, इस पवित्र जिनशासन की पताका को दिग्दिगन्त में फहराते रहे हैं।

वर्तमान शताब्दी में जिनेन्द्रभगवन्तों, वीतरागी सन्तों एवं ज्ञानी धर्मात्माओं द्वारा उद्घाटित इस शाश्वत् सत्य को, जिन्होंने अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से स्वयं आत्मसात करते हुए पैंतालीस वर्षों तक अविरल प्रवाहित अपनी दिव्यवाणी से, इस विश्व में आध्यात्मिक क्रान्ति का शंखनाद किया – ऐसे परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी से आज कौन अपरिचित है! पूज्य गुरुदेवश्री ने क्रियाकाण्ड की काली कारा में कैद, इस विशुद्ध जिनशासन को अपने आध्यात्मिक आभामण्डल के द्वारा न मुक्त ही किया, अपितु उसका ऐसा प्रचार-प्रसार जिसने मानों इस विषम पञ्चम काल में तीर्थङ्करों का विरह भुलाकर, भरतक्षेत्र को विदेहक्षेत्र और पञ्चम काल को चौथा काल ही बना दिया।

भारतदेश के गुजरात राज्य में भावनगर जनपद के 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल, सन् 1890 ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

सात वर्ष की वय में लौकिक शिक्षा लेना प्रारम्भ किया। प्रत्येक वस्तु के हृदय तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धिप्रतिभा, मधुरभाषीपना, शान्तस्वभाव, सौम्य व गम्भीर मुखमुद्रा, तथा निस्पृह स्वभाववाले होने से

बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में प्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में माता के अवसान से, पिताजी के साथ पालेज जाना हुआ। चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर रात्रि के समय रामलीला या नाटक देखने जाते, तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन के काव्य की रचना करते हैं — **शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।**

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करते हैं, और गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार करते हैं, फिर 24 वर्ष की उम्र में (विक्रम संवत् 1970) में जन्मनगरी उमराला में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार करते हैं। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाती है, तीक्ष्ण बुद्धि के धारक कानजी को शङ्का होती है कि कुछ गलत हो रहा है।

विक्रम संवत् 1978 में महावीरप्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसङ्ग बनता है :

विधि के किसी धन्य क्षण में श्रीमद्‌भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, गुरुदेवश्री के हस्तकमल में आता है और इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्‌गार निकलते है — **'यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** समयसार का अध्ययन और चिन्तन करते हुए अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रस्फुटित होता है एवं अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन होता है। भूली पड़ी

परिणति निज घर देखती है। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको निःशंक निर्णय हो जाता है कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण अन्तरंग श्रद्धा कुछ और तथा बाहर में वेष कुछ और — यह स्थिति आपको असह्य लगने लगती है। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय करते हैं।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थल की शोध करते हुए सोनगढ़ आकर 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर जन्मकल्याणक के दिवस, (चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991) दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न, मुँहपट्टी का त्याग करते हैं और स्वयं घोषित करते हैं कि '**अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।**' सिंहवृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्‌भुत पराक्रमी कार्य किया।

'स्टार ऑफ इण्डिया' में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा। अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल '**श्री जैन स्वाध्याय-मन्दिर**' का निर्माण किया। गुरुदेवश्री ने ज्येष्ठ कृष्णा 8, संवत् 1994 के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह 'स्वाध्यायमन्दिर' जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

यहाँ दिगम्बरधर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया। उनमें से 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर तो 19 बार अध्यात्म वर्षा की। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के

गहन शास्त्रों के रहस्योद्घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1961 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण किया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, इस हेतु से विक्रम संवत् 2000 के मार्गशीष माह से (दिसम्बर 1943 से) **'आत्मधर्म'** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पञ्च कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा अफ्रीका के नैरोबी में कुल 66 पञ्च कल्याणक तथा वेदी प्रतिष्ठा इन वीतरागमार्ग प्रवर्तक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ।

दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार (मार्गशीष कृष्णा 7, संवत् 2037) के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष देहादि का लक्ष्य छोड़कर, अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके यहाँ से अध्यात्म युग सृजन कर गये।

अनुक्रमणिका

1. वीतराग-विज्ञान	3
2. द्रव्य-गुणों का स्वतन्त्र परिणमन	16
3. जैनधर्म	19
4. अज्ञान की व्याख्या	23
5. निश्चयसम्यक्त्व	25
6. तत्त्वविचार की महिमा	26
7. मिथ्यात्व ही आस्रव; सम्यक्त्व ही संवर-निर्जरा-मोक्ष	27
8. दु:ख का मूल, मिथ्यात्व; सुख का मूल, सम्यक्त्व	29
9. भवितव्य	31
10. जीव स्वयं नित्य ही है	34
11. संसारी जीवों का सुख के लिए मिथ्या उपाय	35
12. बाह्य सामग्री से सुख-दु:ख मानना, भ्रम	38
13. परपदार्थों का कर्ता-हर्ता आत्मा नहीं	40
14. इच्छा के प्रकार और दु:ख	43
15. परम कल्याण	45
16. प्रत्येक जीवात्मा, भिन्न-भिन्न है	47
17. जीव का सदैव कर्तव्य	48
18. सर्व उपदेश का तात्पर्य	49
19. सम्यग्दर्शन का लक्षण	51
20. जीव को सम्यक्त्व क्यों नहीं	57
21. वस्तु का परिणमन बाह्य कारणों से निरपेक्ष	59
22. वासना का प्रकार	61
23. अन्तरङ्ग श्रद्धा और उसका फल, केवलज्ञान	64
24. मूढ़ता के प्रकार	66
25. हेय-उपादेय-ज्ञेय	68

26. ज्ञान ही आत्मा	70
27. महिमावन्त सम्यक्त्व	71
28. शुद्ध का अर्थ क्या?	77
29. साधकदशा : ज्ञानधारा–कर्मधारा	81
30. बहिरात्मा–अन्तरात्मा	88
31. धर्म का मूल	92
32. विविध प्रश्नोत्तर	106
परिशिष्ट 1 – दुःख का मूल : चार प्रकार की इच्छाएँ	116
परिशिष्ट 2 – द्रव्यसंग्रह प्रश्नोत्तरी	126
परिशिष्ट 3 – समाधिमरण का स्वरूप	209

ॐ

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

जैन सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला

भाग - 6

मङ्गलाचरण

णमो अरहन्ताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं;
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं ॥1॥

आत्मा सो अर्हन्त है, निश्चय सिद्ध जु सोहि।
आचारज उवझाय अरु, निश्चय साधु सोहि ॥2॥

स्याद्वाद अधिकार अब, कहौ जैन को मूल।
जाकें जानत जगत जन, लहैं जगत-जल-कूल ॥3॥

देव गुरु दोनों खड़े, किसके लागू पाय।
बलिहारी गुरुदेव की, भगवन दियो बताय ॥4॥

करुणानिधि गुरुदेवश्री, दिया सत्य उपदेश।
ज्ञानी माने परख कर, करे मूढ़ संक्लेश ॥5॥

शास्त्राभ्यास की महिमा

हे भव्य हो! शास्त्राभ्यास के अनेक अंग हैं। शब्द या अर्थ का वाँचना या सीखना, सिखाना, उपदेश देना, विचारना, सुनना, प्रश्न करना, समाधान जानना, बारंबार चर्चा करना इत्यादि अनेक अंग हैं, वहाँ जैसे बने तैसे अभ्यास करना, यदि सर्व शास्त्र का अभ्यास न बने तो इस शास्त्र में सुगम या दुर्गम अनेक अर्थों का निरूपण है, वहाँ जिसका बने, उसका ही अभ्यास करना परन्तु अभ्यास में आलसी न होना।

देखो! शास्त्राभ्यास की महिमा, जिसके होने पर परम्परा आत्मानुभवदशा को प्राप्त होता है, मोक्षरूपफल को प्राप्त होता है। यह तो दूर ही रहो, तत्काल ही इतने गुण प्रगट होते हैं ह्न

(१) क्रोधादि कषायों की तो मन्दता होती है।
(२) पञ्चेन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति रुकती है।
(३) अति चञ्चल मन भी एकाग्र होता है।
(४) हिंसादि पाँच पाप नहीं होते।
(५) स्तोक (अल्प) ज्ञान होने पर भी त्रिलोक के तीन काल सम्बन्धी चराचर पदार्थों का जानना होता है।
(६) हेय-उपादेय की पहचान होती है।
(७) आत्मज्ञान सन्मुख होता है और ज्ञान आत्मसन्मुख होता है।
(८) अधिक-अधिक ज्ञान होने पर आनन्द उत्पन्न होता है।
(९) लोक में महिमा-यश विशेष होता है।
(१०) सातिशय पुण्य का बंध होता है।

सो इत्यादिक गुण शास्त्राभ्यास करने से तत्काल ही उत्पन्न होते हैं; इसलिए शास्त्राभ्यास अवश्य करना।

ह्न पण्डितप्रवर टोडरमल, सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका

जिनागम नवनीत

(1)

वीतराग-विज्ञान

(मोक्षमार्गप्रकाशक में से माङ्गलिक काव्य)

[अ] मङ्गलमय मङ्गलकरण, वीतराग-विज्ञान।
नमौं ताहि जातैं भये, अरहन्तादि महान॥1॥
करि मङ्गल करिहौं महा, ग्रन्थ करन को काज।
जातैं मिलै समाज सब, पावै निजपद राज॥2॥

अर्थ - वीतराग-विज्ञान, मङ्गलमय है तथा मङ्गल का करनेवाला है। जिस कारण से अरहन्तादि पञ्च-परमेष्ठी महान हुए हैं, उसको (वीतराग-विज्ञान को) नमस्कार करता हूँ। इस प्रकार मङ्गलाचरण करके इस महान ग्रन्थ के करने का शुभकार्य करता हूँ। जिससे सर्व समाज को उस वीतराग-विज्ञान की प्राप्ति हो और निजपद के राज्य को प्राप्त करे।

भावार्थ - विज्ञान दो प्रकार का है — (1) अज्ञानरूप विज्ञान, और (2) वीतराग-विज्ञान।

प्रश्न 1- अज्ञानरूप विज्ञान क्या है?

उत्तर - जो परिणाम, मिथ्या-अभिप्रायसहित हो, स्व-पर के एकत्व अभिप्राय से युक्त हो, वह अज्ञानरूप विज्ञान है।

श्री समयसार, गाथा 271 की टीका में लिखा है कि 'स्व-पर

का अविवेक हो (स्व-पर का भेदज्ञान ना हो)' तब जीव को अध्यवसितिमात्र (एक में दूसरे की मान्यतापूर्वक) परिणति और (मात्र पर को जानने की बुद्धि होने से) विज्ञप्तिमातृत्व से विज्ञान है। यह विज्ञप्तिमात्र स्व-पर के अविवेक को दृढ़ करती है; इसलिए अज्ञान कहलाती है, ऐसा विज्ञान मिथ्यादृष्टियों को होता है तथा वह संसारवर्धक है।

मुझ निज आत्मा के अलावा, विश्व में अनन्त आत्माएँ, अनन्तान्त पुद्गल, धर्म-अधर्म, आकाश एक-एक, लोकप्रमाण असंख्यात कालद्रव्य तथा शुभाशुभभावों में एकत्वबुद्धि, एकत्व का ज्ञान और एकत्व का आचरण ही अज्ञानरूप विज्ञान है। यह अज्ञानरूप विज्ञान, इस जीव को चारों गतियों में भ्रमण कराता है।

प्रश्न - अज्ञानरूप विज्ञान कितने प्रकार का है ?

उत्तर - (1) हिंसादि और अहिंसादि के अध्यवसान से, अपने को हिंसादि और अहिंसादिरूप मानना।

(2) उदय में आते हुए नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव के अवध्यवसान से, अपने को नारकी आदिरूप मानना।

(3) जानने में आते हुए सब द्रव्यों में, अपने को उसरूप करने की मान्यता। *(श्रीसमयसार, गाथा 268 से 270 तक)*

प्रश्न - वीतराग-विज्ञान क्या है ?

उत्तर - स्व-पर के भिन्नपने का ज्ञान, वीतराग-विज्ञान है।

श्रीसमयसार, गाथा 74 में लिखा है कि 'मिथ्यात्व जाने के बाद जीव, चाहे ज्ञान का उघाड़ अल्प हो, तो भी विज्ञान कहने में आता है। जैसे-जैसे विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है, वैसे-वैसे आस्रवों से निवृत्त होता जाता है और जैसे-जैसे आस्रवों से निवृत्त होता जाता है, तैसे-तैसे विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है।'

मुझ निज आत्मा के अलावा, विश्व में अनन्त आत्माएँ, अनन्तानन्त पुद्गल, धर्म-अधर्म-आकाश एक-एक, लोकप्रमाण असंख्यात कालद्रव्य तथा शुभाशुभभावों में भिन्नत्व का श्रद्धान, भिन्नत्व का ज्ञान और भिन्नत्व का आचरण ही वीतराग-विज्ञान है। वह जीव को चारों गतियों का अभाव करके मोक्ष में पहुँचा देता है।

प्रश्न - मङ्गल शब्द का क्या अर्थ है?

उत्तर - (1) 'मङ्ग' अर्थात् सुख, उसे 'लाति' अर्थात देता है।

(2) 'मं' अर्थात् पाप, उसे 'गालयति' अर्थात् गाले, दूर करे उसका नाम मङ्गल है। वास्तव में मिथ्यादर्शनादि भाव, पाप हैं, उनका नाश करके सम्यग्दर्शनादि भाव, सुख हैं, उनकी प्राप्ति होना, वह मङ्गल है। *[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ, 8 के आधार पर]*

[आ] मिथ्याभाव अभाव तें, जो प्रगटै निज भाव।
सो जयवन्त रहौ सदा, यह ही मोक्ष उपाव॥

[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 21]

अर्थ - मिथ्याभाव का अभाव होने से जो निजभाव प्रगट होता है, वह एक ही मोक्ष का उपाय है। वह सदा जयवन्त रहो।

भावार्थ - यहाँ मोक्ष का उपाय एक ही है; दो या अधिक मोक्षमार्ग नहीं हैं—ऐसा स्पष्ट बताया है। मोक्षमार्ग एक ही है - ऐसा ही श्री प्रवचनसार, गाथा 82, 199, 242 में तथा समयसार, कलश 239 और 240 में बताया है। रत्नकरण्डश्रावकाचार, गाथा 3 में तथा तत्वार्थसूत्र, पहले अध्याय के पहले सूत्र में भी यही बताया है।

मोक्षमार्ग दो नहीं हैं, मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार है... एक निश्चयमोक्षमार्ग है, एक व्यवहारमोक्षमार्ग है—इस प्रकार दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है। *[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 248-249]*

मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र, यह मिथ्याभाव हैं, इनके अभाव से

तथा अपने स्वभाव का आश्रय लेने से निजभाव प्रगट होता है, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

स्व-पर के अविवेक से मिथ्याभाव प्रगट होता है और स्व-पर के विवेक से सम्यक्‌भाव प्रगट होता है।

[इ] सो निजभाव सदा सुखद, अपना करो प्रकाश।
जो बहुविधि भव दुःखनि को, करि है सत्ता नाश॥

[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 45]

अर्थ - जो निजभाव है, वह सदा सुख देनेवाला है; इसलिए निजभाव को प्रकाश करो। निजभाव के प्रकाश करने से अनेक प्रकार के दुःखों की सत्ता का नाश हो जाता है।

भावार्थ - जीव, अनादि से एक-एक समय करके मिथ्याभाव के कारण ही अनेक प्रकार के दुःखों को भोगता है। उन सब दुःखों का नाश, एकमात्र निजभाव को प्रगट करने से ही होता है, क्योंकि वह सदा सुख देनेवाला है।

बाह्य पदार्थों के कारण जीव को सुख-दुःख होता है, यह मान्यता झूठी है; इसलिए मिथ्या मान्यता को छोड़कर, अपने ज्ञायकस्वभाव का आश्रय लेकर, शुद्धभाव, प्रगट करना चाहिए, क्योंकि शुद्धभाव सुखदायक है और आकुलता-चिन्ता का अभाव करनेवाला है।

प्रश्न - अशुद्धभाव क्या है?

उत्तर - हिंसादि और अहिंसादि के भाव, अशुद्धभाव हैं। इन अशुद्धभावों को और आत्मा को एक मानना—यह संसार का बीज है, मिथ्यात्व है। इस भाव से सब बातें उल्टी ही श्रद्धा में आती हैं, उल्टी ही ज्ञान में जाती हैं और उल्टी ही आचरणरूप होती है। आत्मा और विकारी, क्षणिकभावों की एकताबुद्धि ही अनन्त संसार है।

[पुरुषार्थसिद्धिउपाय, गाथा 14]

प्रश्न - शुद्धभाव क्या है ?

उत्तर - अपने त्रिकाली आत्मा का आश्रय लेने से अशुद्धभाव रुक जाते हैं और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव प्रगट हो जाते हैं। शुद्धभाव के प्रगट होते ही अनन्त संसार का अभाव हो जाता है। शुद्धभाव के प्रगट होते ही सच्ची श्रद्धा, सच्चा ज्ञान, सच्चा आचरण प्रगट हो जाता है। पर का मैं करूँ-धरूँ रूप जो बुद्धि है, उसका अभाव हो जाता है।

प्रश्न - शुद्धभाव के प्रगट होते ही क्या-क्या होता है; जरा स्पष्ट बताइये ?

उत्तर - (1) मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, जो संसार के कारण हैं, उनका अभाव हो जाता है।

(2) आठों कर्मों का अभाव हो जाता है।

(3) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप जो पाँच परावर्तन हैं, उनका अभाव हो जाता है।

(4) पञ्चम पारिणामिकभाव का महत्व आ जाता है और क्षायिकभाव, जो पूर्ण शुद्धभाव है, वह कैसा होता है - उसका पता चल जाता है।

(5) पञ्च परमेष्ठियों का सच्चा स्वरूप क्या है - उसका पता चल जाता है।

(6) शुद्धभाव प्रगट होते ही पञ्च परमेष्ठियों में इसकी गिनती होने लगती है।

(7) पञ्चम गति का पात्र हो जाता है और चार गति का अभाव हो जाता है।

(8) भावश्रुतज्ञानी होते हुए भी, केवली की भाँति सर्व पदार्थों का ज्ञाता हो जाता है; मात्र प्रत्यक्ष-परोक्ष का भेद रहता है।

(9) शुद्धभाव के प्रगटते ही 'स हि मुक्त एवं' बन जाता है।

(10) शुद्धभाव प्रगट होते ही, निर्जरा को प्राप्त होता हुआ समस्त अशुद्धि का अभाव करके साक्षात् मोक्ष होता है।

[श्रीसमयसार, गाथा 204]

प्रश्न - शुद्धभाव के पर्यायवाची शब्द क्या-क्या हैं ?

उत्तर - सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र; वीतराग विज्ञानता; संवर-निर्जरा सभी शुद्धभाव के पर्यायवाची हैं।

[ई] इस भव के सब दुःखनि के, कारण मिथ्याभाव।
तिनि की सत्ता नाश करि, प्रगटे मोक्ष उपाय॥

[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 76]

अर्थ - जीवों को सर्व-दुःखों का कारण एकमात्र मिथ्यात्वभाव है। उस मिथ्यात्वभाव का अभाव होने पर, मोक्ष का उपाय प्रगट होता है।

भावार्थ - मिथ्याभाव का अभाव, सम्यग्दर्शन प्रगट हुए बिना नहीं होता। इसलिए प्रथम, जीवों का कर्तव्य सम्यग्दर्शन प्रगट करने का है। सम्यग्दर्शन प्रगट होने पर, संवर-निर्जरा प्रारम्भ होती है, वही वृद्धि करते-करते पूर्ण चारित्र प्रगट होता है। उस चारित्र का फल, सिद्धदशा है।

प्रश्न - पञ्चास्तिकाय, गाथा 150 तथा 151 में क्या कहा है ?

उत्तर - 'आस्रव का हेतु वास्तव में जीव का मोह राग-द्वेषभाव हैं। ज्ञानी को उसका अभाव होता है। उसका अभाव होने से, आस्रवभाव का अभाव होता है और आस्रवभाव का अभाव होने से, कर्म का अभाव होता है। कर्म का अभाव होने से, सर्वज्ञता, सर्वदर्शिता और अव्याबाध अनन्त सुख होता है, सो यह जीवनमुक्ति (अर्थात्, देह होने पर भी मुक्ति) नाम का भावमोक्ष है।'

प्रश्न - रत्नकरण्डश्रावकाचार में क्या कहा है ?

उत्तर - श्री रत्नकरण्डश्रावकाचार में सम्यग्दर्शन के उत्कृष्टपने के हेतु को बतलाते हुए श्लोक 32 में लिखा है—

विद्यवृत्तस्य संभूति, स्थिति वृद्धि फलोदया।
न सन्त्यसति सम्यक्वे बीजाभावे तरोरिव॥

अर्थ - विद्या, अर्थात् ज्ञान; वृत्त, अर्थात् चारित्र, इनकी उत्पत्ति स्थिति, वृद्धि और फल का उदय, सम्यक्त्व के बिना नहीं होता है। जैसे, बीज के अभाव होने से वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल का उदय नहीं होता है।

प्रश्न - सम्यग्दर्शन को कर्णधार क्यों कहा है ?

उत्तर - श्री रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक 31 में लिखा है कि-

दर्शन ज्ञान चारित्रात्, साधिमानमुपाश्चनुते।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्ग प्रचक्षते॥31॥

अर्थ - ज्ञान और चारित्र से सम्यग्दर्शन सर्वोत्कृष्ट है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना, ज्ञान-चारित्र होता ही नहीं। इस कारण मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन को कर्णधार और अपार संसारसमुद्र में रत्नत्रयरूप जहाज को पार करने में सम्यग्दर्शन खेवटिया (नाविक) है। सम्यग्दर्शन के बिना, बड़े से बड़ा नाम धराता हो, वह मिथ्यादृष्टि-पापी है।

प्रश्न - तीन काल और तीन लोक में जीव का बुरा करनेवाला और कल्याण करनेवाला कौन है ?

उत्तर - श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक 34 में लिखा है सम्यग्दर्शन के समान तीन काल और तीन लोक में अन्य कोई कल्याणकारी नहीं है और मिथ्यात्व के समान तीन काल और तीन लोक में अन्य कोई अकल्याणकारी नहीं है।

प्रश्न - सम्यग्दर्शन क्या है ?

उत्तर - मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी है; इसलिए सबसे प्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त होना चाहिए।

प्रश्न - निजभाव मलिन क्यों होता है ?

उत्तर -

बहुविधि मिथ्या गहनकरि, मलिन भयो निज भाव।
ताको होत अभाव है, सहजरूप दरसाव॥

[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 95]

अर्थ - अनेक प्रकार के मिथ्याश्रद्धान के ग्रहण से निजभाव मलिन होता है। इन कारणों का अभाव होने पर, जीव का सहजरूप देखने में आता है।

भावार्थ - जगत में धर्म के नाम पर अनेक मिथ्या मान्यताएँ चलती हैं। जिस कुटुम्ब में स्वयं मनुष्यरूप जन्म लिया, वहाँ जो कुछ मान्यता चलती हों, उसी को वह ग्रहण करता है। उस मिथ्या मान्यता से उसका निजभाव मलिन होता है। इसलिए सच्चेदेव, सच्चेगुरु, सच्चे धर्म का, तत्त्वों का, द्रव्यों का, सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग का यथार्थ स्वरूप क्या है और अन्यथा स्वरूप क्या है ? उसे जानकर, अन्यथा विपरीत स्वरूप, जिससे अपना निजभाव मलिन हो रहा था, उसे छोड़कर, यथार्थ ग्रहण करके उन भावों का अभाव करना चाहिए और अपना सहज स्वभाविक शुद्धस्वरूप जो शक्तिरूप है, उसे पर्याय में प्रगट करना चाहिए। अन्य मतवाले अनेक कल्पित बातें करते हैं, सो जैनधर्म में सम्भव नहीं हैं।

प्रश्न - मिथ्यात्वभाव दृढ़ कैसे होता है ?

उत्तर -

मिथ्या देवादिक भजै, हो है मिथ्याभाव।
तज तिनको साँचे भजो, यह हित हेतु उपाय॥

[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 168]

अर्थ - मिथ्या देव-गुरु-धर्म के मानने से मिथ्याभाव दृढ़ होता है; इसलिए इनको छोड़कर, सच्चे देव-गुरु-धर्म को मानना चाहिए, यह हित का उपाय है।

भावार्थ - आत्मा का हित, जन्म-मरण का अभाव करके परिपूर्ण सुखदशा की प्राप्ति ही है। कुदेव-कुगुरु-कुधर्म की भक्ति से मिथ्याभाव उत्पन्न होता है; इसलिए सत्य क्या है ? उसका यथार्थ निर्णय करके, असत्य को छोड़कर, सत्य देवादि को ग्रहण करके, उसके उपदेश के अनुसार शुद्धता प्रगट करनी चाहिए क्योंकि वह अपने हित का निमित्तकारण है; इसलिए उसका उपाय करना।

प्रश्न - हम दिगम्बरधर्मी, अन्य कुगुरु-कुदेव-कुधर्म को मानते ही नहीं क्योंकि वीतरागी प्रतिमा को पूजते हैं, 28 मूलगुणधारी नग्न दिगम्बर भावलिङ्गी मुनि को मानते हैं, तो हम किस प्रकार मिथ्यादृष्टि हैं ?

उत्तर - 'सत्तास्वरूप' में पण्डित भागचन्द्रजी छाजेड़ ने कहा है - दिगम्बर जैन कहते हैं कि 'हम तो सच्चे देवादि को मानते हैं; इसलिए हमारा गृहीतमिथ्यात्व तो छूट गया है। तो कहते हैं कि नहीं, तुम्हारा गृहीतमिथ्यात्व नहीं छूटा है क्योंकि तुम गृहीतमिथ्यात्व को जानते ही नहीं। मात्र अन्य देवादि को मानना ही गृहीतमिथ्यात्व का स्वरूप नहीं है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, बाह्य में भी यथार्थ व्यवहार जानकर करना चाहिए। सच्चे व्यवहार को जाने बिना, कोई देवादि की श्रद्धा करे, तो भी वह गृहीतमिथ्यादृष्टि है।

प्रश्न - गृहीतमिथ्यात्व कैसे छूटे ?

उत्तर – वर्तमान में जो कोई–शुभभावों से आत्मा का भला होता है; निमित्त मिले तो कल्याण हो; दूसरे के आश्रय से हमारा भला होता है – आदि खोटी मान्यताओं के उपदेशक की श्रद्धा, सब गृहीत–मिथ्यात्व में आते हैं।

(1) एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य का कुछ कर सकता है, कुछ सहायता आदि करता है – आदि उपदेशक, गृहीतमिथ्यात्व में आते हैं।

(2) शुभभाव करो, धीरे–धीरे कल्याण हो जावेगा आदि मान्यता करनेवाले वर्तमान में जो कोई हों, इनसे दूर रहना चाहिए। श्रीरत्नकरण्ड –श्रावकाचार, श्लोक 117 की टीका में पण्डित सदासुखदासजी ने लिखा है कि 'कलिकाल में भावलिङ्गी मुनीश्वर तथा अर्जिका तथा क्षुल्लक का समागम तो है ही नाहि' इसलिए सच्चे देव–गुरु–धर्म का स्वरूप समझकर, दिगम्बरधर्म के नाम से मोक्षमार्ग में विघ्न करनेवाले जो कोई भी हों, इनसे दूर रहना चाहिए, क्योंकि वे गृहीतमिथ्यात्व के पुष्ट करनेवाले हैं।

प्रश्न – आत्मा का हित मोक्ष ही है, ऐसा मोक्षमार्गप्रकाशक में कहाँ आया है ?

उत्तर – मोक्षमार्गप्रकाशक, 9वाँ अध्याय, पृष्ठ 306 में लिखा है 'आत्मा का हित मोक्ष ही है, अन्य नहीं।'

प्रश्न – आत्मा का हित मोक्ष ही है – उसकी सिद्धि कैसे हो ?

उत्तर – मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 307 में लिखा है कि '(1) या तो अपने रागादि दूर हों, (2) या आप चाहें उसी प्रकार सर्व द्रव्य परिणमित हों, तो आकुलता मिटे, परन्तु सर्व द्रव्य तो अपने आधीन नहीं हैं क्योंकि किसी द्रव्य का परिणमन, किसी द्रव्य के आधीन नहीं है, सब अपनी–अपनी मार्यादा लिए परिणमें हैं।'

अपने रागादिक दूर होने पर निराकुलता हो, सो यह कार्य बन

सकता है। सो अपने परिपूर्ण स्वभाव का आश्रय लेकर अपना हित साधना प्रत्येक जीव का प्रथम कर्तव्य है।

प्रश्न - सबसे बड़ा पाप क्या है?

उत्तर - मिथ्यात्व ही सबसे बड़ा पाप है।

प्रश्न - सबसे बड़ा पाप मिथ्यात्व है - यह कहाँ आया है?

उत्तर - मोक्षमार्गप्रकाशक, छठवें अधिकार के अन्त में पृष्ठ 191 में लिखा है कि 'जिनधर्म में तो यह आम्नाय है कि पहले बड़ा पाप छुड़ाकर फिर छोटा पाप छुड़ाया है; इसलिए इस मिथ्यात्व को सप्त व्यसनादिक से भी बड़ा पाप जानकर पहले छुड़ाया है; इसलिए जो पाप के फल से डरते हैं, अपने आत्मा को दुःख समुद्र में नहीं डुबाना चाहते हैं, वे जीव इस मिथ्यात्व को अवश्य छोड़ो।'

इस भव तरु का मूल इक, जानहू मिथ्याभाव।
ताकौं करि निर्मूल अब, करिए मोक्ष उपाव॥

[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 193]

अर्थ - इस भवरूपी वृक्ष का मूल एक मिथ्यात्वभाव है, उसको निर्मूल करके, मोक्ष का उपाय करना चाहिए।

भावार्थ - मिथ्यात्व, महापाप है। मिथ्यात्व को सात व्यसन से भी महापाप जानकर पहले छुड़ाया है; इसलिए पात्र जीव को मिथ्यात्व को तुरन्त छोड़ देना चाहिए।

प्रश्न - निश्चयाभासी मिथ्यात्व की पुष्टि कैसे करता है?

उत्तर - जो बात भगवान ने शक्ति अपेक्षा कही हैं, निश्चयाभासी जीव उसे वर्तमान पर्याय में मानकर; तथा भगवान ने शुभभावों को हेय बताया है - ऐसा मानकर, अशुभ में प्रवर्तता हुआ अपने को मोक्षमार्गी मानता हुआ मिथ्यात्व की पुष्टि करता है।

प्रश्न - व्यवहाराभासी मिथ्यात्व की पुष्टि कैसे करता है ?

उत्तर - 'केऊ व्यवहार दान शील तप भाव ही को आत्मा का हित जान छाँड़त न मुद्धता' जो बात जिनागम में व्यवहार की मुख्यता से बतलायी हैं, व्यवहाराभासी जीव उसे ही मोक्षमार्ग मानकर बाह्य साधनादिक श्रद्धानादिक करता है - ऐसा मानने से उसके सर्व धर्म के अङ्ग मिथ्यात्वभाव को प्राप्त होते हैं।

प्रश्न - उभयाभासी मिथ्यात्व की पुष्टि कैसे करता है ?

उत्तर - 'केऊ व्यवहारनय, निश्चय के मारग भिन्न-भिन्न जान, यह बात करे उद्धता' निश्चयभासी के समान, निश्चय को और व्यवहाराभासी के समान, व्यवहार को; इस प्रकार दोनों को माननेवाला उभयाभासी है।

(1) दो प्रकार के मोक्षमार्ग मानता है, जबकि एकमात्र वीतरागता ही मोक्षमार्ग है।

(2) निश्चय-व्यवहार दोनों को उपादेय मानता है, जबकि मात्र निश्चय उपादेय है और व्यवहार हेय है - आदि बातों से मिथ्यात्व की पुष्टि करता है।

प्रश्न - तीनों प्रकार के भासियों की मिथ्या मान्यता कैसे टले ?

उत्तर - 'जबै जाने निह्यचै के भेद-व्यवहार सब कारण को उपचार माने, तब बुद्धता' निश्चय-व्यवहार को जानकर अपने स्वभाव का आश्रय ले तो मिथ्याभासीपने का अभाव हो, तब धर्म की प्राप्ति हो।

शिव उपाय करते प्रथम, कारन मङ्गल रूप।
विघन विनाशक सुख करन, नमों शुद्ध शिवभूप॥

[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 306]

अर्थ – शिव उपाय, अर्थात् मोक्ष को उपाय करते समय पहले उसका कारण और मङ्गलरूप, शुद्ध शिवभूप को नमस्कार करना चाहिए, क्योंकि वह विघ्न विनाशक और सुख करनेवाला है।

भावार्थ – शुद्ध शिवभूप, व्यवहारनय से सिद्धभगवान हैं और निश्चयनय से अपना त्रिकाली आत्मा ही है, जो कि सर्व विशुद्ध परमपारिणामिक, परमभावग्राहक, शुद्ध उपादानभूत, शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से निज जीव ही है, जो कि कर्तृत्व-भोक्तृत्व रहित तथा बन्ध-मोक्ष के कारण और परिणाम से रहित (शून्य) है। उसकी प्राप्ति एकमात्र शक्तिवान के आश्रय से ही होती है; किसी पर भगवान या शुभभाव से कभी भी नहीं। इसलिए अपने परम पारिणामिक ज्ञायक आत्मा का आश्रय लेकर, संवर-निर्जरारूप मोक्षमार्ग की प्राप्ति कर, पूर्ण मोक्ष का पथिक बनना ही जैनधर्म का सार है।

2

द्रव्य-गुणों का स्वतन्त्र परिणमन

जीवद्रव्य, उसके अनन्त गुण, सब गुण असहाय, स्वाधीन, सदा काल, ऐसा वस्तुस्वरूप है।

अब इनकी व्यवस्था - 'न ज्ञान, चारित्र के आधीन है; न चारित्र, ज्ञान के आधीन है; दोनों असहायरूप हैं।' ऐसी मर्यादा बँधी है। *[मोक्षमार्गप्रकाशक में परिशिष्ट उपादान-निमित्त चिट्ठी, पृष्ठ 16]*

(इ) कोई कहता है कि 'ज्ञान की शुद्धता से क्रिया (चारित्र) शुद्ध हुआ, तो ऐसा नहीं है। कोई गुण, किसी गुण के सहारे नहीं है।' सर्व असहायरूप हैं। *[मोक्षमार्गप्रकाशक में परिशिष्ट उपादान-निमित्त चिट्ठी, पृष्ठ 19]*

प्रश्न - इसमें अनेकान्त कैसे हुआ ?

उत्तर - सर्व गुण स्वाधीन, वह अस्ति तथा असहाय, वह नास्ति; इस प्रकार अस्ति-नास्तिरूप असहाय, यह अनेकान्त है।

प्रत्येक द्रव्य का परिणमन स्वतन्त्र है, निमित्त विशिष्टता नहीं ला सकता 'क्योंकि पर, अर्थात् परद्रव्य किसी द्रव्य को परभावरूप करने का निमित्त नहीं हो सकता।' *[श्रीसमयसार, गाथा 220 से 223 टीका में]*

संसारी के एक यह उपाय है कि स्वयं को जैसा श्रद्धान है, उसी प्रकार पदार्थों को परिणमित करना चाहता है; यदि वे परिणमित हों तो इसका सच्चा श्रद्धान हो जाये। परन्तु अनादि-निधन वस्तुएँ भिन्न-भिन्न अपनी मर्यादासहित परिणमित होती हैं, कोई किसी के आधीन नहीं है, कोई किसी के परिणमित कराने से परिणमित नहीं

होती। तथापि जीव उन्हें अपनी इच्छानुसार परिणमित कराने की इच्छा करता है, यह तो मिथ्यादर्शन ही है। *[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 52]*

'कोई द्रव्य, किसी द्रव्य का कर्ता-हर्ता है नहीं, सर्व द्रव्य अपने-अपने स्वभावरूप परिणमित होते हैं, यह जीव वृथा ही कषायभाव से आकुलित होता है।'

'लोक में सर्व पदार्थ अपने-अपने स्वभाव के ही कर्ता हैं; कोई किसी को सुख-दुःखदायक, उपकारी-अनुपकारी है नहीं। यह जीव व्यर्थ ही अपने परिणामों में उन्हें सुखदायक-उपकारी मानकर इष्ट मानता है अथवा दुःखदायी-अनुपकारी जानकर अनिष्ट मानता है।' *[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 89]*

'यदि परद्रव्य का ग्रहण-त्याग आत्मा के हो, तो आत्मा परद्रव्य का कर्ता-हर्ता हो जाए परन्तु कोई द्रव्य, किसी द्रव्य के आधीन है नहीं; इसलिए आत्मा, अपने भाव रागादिक है, उन्हें छोड़कर वीतरागी होता है।' *[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 252]*

'सर्व कार्य जैसे यह चाहे, वैसे ही हों; अन्यथा न हो, तब यह निराकुल रहे परन्तु यह तो हो ही नहीं सकता क्योंकि किसी द्रव्य का परिणमन, किसी द्रव्य के आधीन नहीं है; इसलिए अपने रागादिक दूर होने पर निराकुलता हो; सो यह कार्य बन सकता है।'

[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 308]

'इस बंधान में कोई किसी को करता तो है नहीं।'

[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 24]

'यदि कर्म स्वयं कर्ता होकर उद्यम से जीव के स्वभाव का घात करें, बाह्य सामग्री को मिलावे, तब तो कर्म के चेतनपना भी चाहिए और बलवानपना भी चाहिए, सो है नहीं; सहज ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।' *[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 25]*

'पदार्थों को यथार्थ मानना और यह परिणमित कराने से अन्यथा परिणमित नहीं होंगे, ऐसा मानना सो ही उस दु:ख के दूर होने का उपाय है। भ्रमजनित दु:ख का उपाय, भ्रम दूर करना ही है। सो भ्रम दूर होने से सम्यक् श्रद्धान होता है, वही सत्य उपाय जानना।'

[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 52]

'सब पदार्थ अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न रहनेवाले अपने अनन्त धर्मों के चक्र को (समूह को) चुम्बन करते हैं, स्पर्श करते हैं तथापि वे (सब द्रव्य)परस्पर एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते।'

[श्रीसमयसार, गाथा 3 की टीका]

अन्य द्रव्य से, अन्य द्रव्य के गुण की उत्पत्ति नहीं की जा सकती; इससे (यह सिद्धान्त हुआ कि) सर्व द्रव्य अपने-अपने स्वभाव से उत्पन्न होते हैं। *[श्रीसमयसार, मूल गाथा 372]*

जो द्रव्य, किसी द्रव्य में और पर्याय में वर्तता है, वह अन्य द्रव्य में तथा पर्याय में बदलकर अन्य में नहीं मिल जाता। अन्यरूप से संक्रमण को प्राप्त न होती हुई वस्तु, अन्य वस्तु को कैसे परिणमन करा सकती है ? अर्थात् नहीं करा सकती है।

[श्रीसमयसार, मूल गाथा 103]

जो परद्रव्य है, वह ग्रहण नहीं किया जा सकता है और छोड़ा भी नहीं जा सकता; ऐसा ही कोई उसका (आत्मा का) प्रायोगिक (विकारीपर्याय) वैस्रसिक (स्वभाव) है।

[श्रीसमयसार, मूल गाथा 403]

●●

3

जैनधर्म

'सर्व कषायों का जिस-तिस प्रकार से नाश करनेवाला जो जिनधर्म, अर्थात् जैनधर्म।' *[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 12]*

'जैनशास्त्रों के पदों में तो कषाय मिटाने का तथा लौकिक कार्य घटाने का प्रयोजन है।' *[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 13]*

'जैनमत में एक वीतरागभाव के पोषण का प्रयोजन है।' जैनधर्म में देव-गुरु-धर्मादिक का स्वरूप वीतराग ही निरूपण करके केवल वीतरागता ही का पोषण करते हैं। *[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 137]*

'जीव, मोक्षमार्ग को प्राप्त कर लें तो उस मार्ग में स्वयं गमन कर, उन दु:खों से मुक्त हो। सो मोक्षमार्ग एक वीतरागभाव है; इसलिए जिन शास्त्रों में किसी प्रकार राग-द्वेष मोहभावों का निषेध करके वीतरागभाव का प्रयोजन प्रगट किया हो, उन्हीं शास्त्रों का बाँचना-सुनना उचित है।' *[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 14]*

जैनधर्म में मुनिपद लेने का क्रम तो यह है — 'पहले तत्त्वज्ञान होता है, तत्पश्चात् उदासीनपरिणाम होते हैं, परिषहादि सहने की शक्ति होती है, तब वह स्वयमेव मुनि होना चाहता है और तब श्रीगुरु, मुनिधर्म अङ्गीकार कराते हैं।' *[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 179]*

जैनधर्म की पद्धति तो ऐसी है कि 'प्रथम तत्त्वज्ञान हो, और पश्चात् चारित्र हो, सो सम्यक्चारित्र नाम पाता है।'

[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 242]

'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग, वही ही मुनियों का सच्चा लक्षण है।' *[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 223]*

'भक्ति तो रागरूप है और राग से बन्ध है; इसलिए मोक्ष का कारण नहीं है।' *[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 222]*

उच्च भूमिका में (ऊपर के गुणस्थानों में) स्थिति प्राप्त न की हो, तब अस्थान का राग रोकने के हेतु अथवा तीव्ररागज्वर मिटाने के हेतु कदाचित् ज्ञानी को भी भक्ति होती है। यह (प्रशस्त राग) वास्तव में, जो स्थूल लक्ष्यवाला होने से मात्र भक्तिप्रधान है - ऐसे अज्ञानी को होता है। *[पञ्चास्तिकाय, गाथा 136, पृष्ठ 203]*

'जिस भाव से आत्मा को पुण्य अथवा पाप आस्रवित होते हैं, उस भाव द्वारा वह (जीव) परचारित्र है - ऐसा जिन प्ररूपित करते हैं; इसलिए परचारित्र में प्रवृत्ति, सो बन्धमार्ग ही है; मोक्षमार्ग नहीं है।' *[पञ्चास्तिकाय, गाथा 157]*

'वीतरागभावरूप तप को न जाने और इन्हीं (अनशन प्रायश्चित आदि) को तप जानकर संग्रह करे तो संसार में ही भ्रमण करेगा। बहुत क्या, इतना समझ लेना कि निश्चयधर्म तो वीतरागभाव है; अन्य नाना विशेष बाह्य साधन को अपेक्षा उपचार से किये हैं, उनको व्यवहारमात्र धर्म संज्ञा जानना। इस रहस्य को जो नहीं जानता, इसलिए उसके निर्जरा का सच्चा श्रद्धान नहीं।'

[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 233]

'स्वर्गसुख का कारण प्रशस्तराग है और मोक्षसुख का कारण वीतरागभाव है।' *[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 234]*

'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता मोक्षमार्ग है, वही धर्म है।' *[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 157]*

'जिनधर्म में यह तो आम्नाय है कि पहले बड़ा पाप छुड़ाकर, फिर छोटा पाप छुड़ाया है। इसलिए मिथ्यात्व को सप्त व्यसनादिक से भी बड़ा पाप जानकर पहले छुड़ाया है। इसलिए जो पाप के फल से डरते हैं, अपने आत्मा को दु:ख समुद्र में नहीं डुबाना चाहते, वे जीव इस मिथ्यात्व को अवश्य छोड़ो।' *[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 191]*

'रागादिक का छोड़ना, इसी भाव का नाम धर्म, अर्थात् जैनधर्म है।' *[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 191]*

'जैनधर्म का तो ऐसा उपदेश है, पहले तो तत्त्वज्ञानी हो, फिर जिसका त्याग करे, उसका दोष पहचाने; त्याग करने में जो गुण हों उसे जाने; फिर अपने परिणामों को ठीक करे; वर्तमान परिणामों के ही भरोसे प्रतिज्ञा न कर बैठे; जैनधर्म में प्रतिज्ञा न लेने का दण्ड तो है नहीं।' *[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 239]*

'जिन्हें बन्ध नहीं करना हो, वे कषाय नहीं करें।'

[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 28]

'जिनमत में तो एक रागादि मिटाने का प्रयोजन है।'

[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 303]

'जिनमत में तो यह परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व होता है, फिर व्रत होते हैं, वह सम्यक्त्व स्व-पर का श्रद्धान होने पर होता है और वह श्रद्धान, द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने पर होता है; इसलिए प्रथम द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि हो, पश्चात् चरणानुयोग के अनुसार व्रतादिक धारण करके व्रती हो।'

[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 293]

स्व-पर के श्रद्धान में शुद्धात्म श्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व गर्भित है। *[मोक्षमार्गप्रकाशक, चिट्ठी, पृष्ठ 2]*

जैनधर्म का सेवन तो संसार नाश के लिए किया जाता है, जो उसके द्वारा सांसारिक प्रयोजन साधना चाहते हैं, वे बड़ा अन्याय करते हैं; इसलिए वे तो मिथ्यादृष्टि हैं ही। *[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 219]*

'इस प्रकार सांसारिक प्रयोजनसहित जो धर्म साधते हैं, वे पापी भी हैं और मिथ्यादृष्टि तो हैं ही।' *[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 220]*

जो जीव, प्रथम से ही साँसारिक प्रयोजनसहित भक्ति करता है तो उसके पाप का ही अभिप्राय हुआ। *[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 222]*

इस प्रयोजन के हेतु अरहन्तादिक की भक्ति करने से भी तीव्रकषाय होने के कारण पापबन्ध ही होता है। *[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 8]*

'शास्त्र बाँचकर आजीविका आदि लौकिक कार्य साधने की इच्छा न हो क्योंकि यदि आशावान हो तो यथार्थ उपदेश नहीं दे सकता।' *[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 15]*

4

अज्ञान की व्याख्या

जीव की जो मान्यता हो, तदनुसार (उस मान्यता के अनुसार) जगत में नहीं बनता हो तो वह मान्यता, अज्ञान है।

[श्रीसमयसार, गाथा 248, 249]

परपदार्थों को परिणमवाने का अभिप्राय वास्तव में अज्ञान ही है, क्योंकि परपदार्थ, आत्मा के आधीन नहीं।

इन्द्रियों से ज्ञान मानना, अज्ञान है क्योंकि ज्ञान तो आत्मा से ही होता है। आत्मा, ज्ञान के लिए इन्द्रिय-प्रकाश आदि बाह्य सामग्री शोधना, अज्ञान है। जिसको मोह महामल्ल जीवित है, वह जीव अपने सुख और ज्ञान के लिए पर की ओर दौड़ता है, यह अज्ञान है।

[श्रीप्रवचनसार, गाथा 55 से]

जीव का जैसा आशय हो, उसके अनुसार जगत में कार्य न बनता हो तो वह आशय, अज्ञान है। *[श्रीसमयसार, गाथा 254 से 256 तक]*

आठ प्रकार के ज्ञानों में मति, श्रुति तथा अवधि ये तीन मिथ्यात्व के उदय के वश (छह द्रव्य, सात तत्त्व, निश्चय-व्यवहार, निमित्त-नैमित्तिक, व्याप्य-व्यापक आदि में) विपरीताभिनिवेशरूप अज्ञान होता है। *[वृहत द्रव्यसंग्रह, गाथा 5, पृष्ठ 14 व 15 से]*

मिथ्यादर्शन ही के निमित्त से क्षयोपशमरूप ज्ञान है, वह अज्ञान हो रहा है। उससे यथार्थ वस्तुस्वरूप का जानना नहीं होता, अन्यथा जानना होता है। *[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 46]*

तत्त्वज्ञान के अभाव से ज्ञान को अज्ञान कहते हैं।

[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 88]

प्रश्न - अज्ञान क्या है ? सीधे-सादे शब्दों में बताओ।

उत्तर - (1) आत्मा का कार्य ज्ञप्तिक्रिया है, इसके बदले यह मानना कि मैं परजीवों को बचा सकता हूँ, मार-जिला सकता हूँ; सुबह से लेकर चौबीस घण्टे जो रूपी पुद्गल का कार्य है, मैं इसे करता हूँ आदि सब मान्यता, अज्ञान है।

(2) स्वयं है आत्मा, इसके बदले अपने को देव, नारकी, इन्द्रियादि वाला मानना, यह अज्ञान है।

(3) ज्ञान, ज्ञान से आता है, उसके बदले ज्ञेय से आता है, यह सब मान्यता, अज्ञान है। *[श्रीसमयसार, गाथा 270 के आधार से]*

●●

5

निश्चयसम्यक्त्व

मिथ्या मति ग्रन्थि भेदि, जगी निर्मल ज्योति।
जो सो अतीत सो, तो निहचैं प्रमानिये।

अर्थ – मिथ्यात्व का नाश होने से मन, वचन, काय के अगोचर जो आत्मा की निर्विकार श्रद्धान की ज्योति प्रकाशित होती है, उसे निश्चयसम्यक्त्व जानना चाहिए।

[श्रीसमयसार-नाटक, चतुर्थ गुणस्थान अधिकार, पृष्ठ 490]

केवलज्ञान आदि गुणों का आश्रयभूत निज शुद्ध आत्मा ही उपादेय है; इस प्रकार की रुचिरूप निश्चयसम्यक्त्व, जो कि पहले तपश्चरण की अवस्था में भावित किया था; (भावना की थी, अनुभव किया था), उसके फलस्वरूप समस्त जीवादि तत्त्वों के विषय में विपरीत-अभिनिवेश (विरुद्ध अभिप्राय) से रहित परिणामरूप परम-क्षायिकसम्यक्त्व कहलाता है। *[वृहतद्रव्यसंग्रह, गाथा 14, पृष्ठ 41]*

विपरीताभिनिवेशरहित जीवादिक तत्त्वार्थ श्रद्धान, वह सम्यग्दर्शन का लक्षण है। *[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 317]*

●●

6

तत्त्वविचार की महिमा

देखो तत्त्वविचार की महिमा! तत्त्वविचाररहित देवादिक की प्रतीति करें, बहुत शास्त्रों का अभ्यास करें, व्रतादि पाले, तपश्चरणादि करे, उसको तो सम्यक्त्व होने का अधिकार नाही और तत्त्वविचारवाला इनके बिना भी सम्यक्त्व का अधिकारी होता है।

[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 260]

तत्त्वविचार में उपयोग को तद्रूप होकर लगाये, उससे समय-समय परिणाम निर्मल होते जाते हैं। *[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 262]*

पुरुषार्थ से तत्त्वनिर्णय में उपयोग लगाये, तब स्वयमेव ही मोह का अभाव होने पर सम्यक्त्वादिरूप मोक्ष के उपाय का पुरुषार्थ बनता है; इसलिए मुख्यता से तो तत्त्वनिर्णय में उपयोग लगाने का पुरुषार्थ करना। *[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 312]*

इसका कर्तव्य तत्त्वनिर्णय का अभ्यास ही है, इसी से दर्शनमोह का उपशम तो स्वयमेव होता है। उसमें जीव का कर्तव्य कुछ नहीं।

[मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 314]

7

मिथ्यात्व ही आस्रव; सम्यक्त्व ही संवर-निर्जरा-मोक्ष

वास्तव में मिथ्यात्व ही आस्रव है।

[श्रीसमयसार-नाटक, पृष्ठ 153, आस्रवाधिकार]

प्रगट हो कि मिथ्यात्व ही आस्रव-बन्ध है और मिथ्यात्व का अभाव सम्यक्त्व, संवर-निर्जरा तथा मोक्ष है।

[श्रीसमयसार-नाटक, पृष्ठ 310, मोक्षद्वार]

सिद्धान्त में मिथ्यात्व को ही पाप कहा है; जब तक मिथ्यात्व रहता है, तब तक शुभाशुभ सर्व क्रियाओं को अध्यात्म में परमार्थतः पाप ही कहा जाता है। *[श्रीसमयसार-कलश, 137 के भावार्थ में पृष्ठ 307]*

मिथ्यात्वसम्बन्धी बन्ध, जो कि अनन्त संसार का कारण है, वहीं यहाँ प्रधानतया विवक्षित है; अविरति आदि से जो बन्ध होता है, वह अल्प स्थिति-अनुभागवाला है; दीर्घ संसार का कारण नहीं है। *[श्रीसमयसार, गाथा 72 के भावार्थ से]*

संसार का कारण मिथ्यात्व ही है; इसलिए मिथ्यात्व सम्बन्धी रागादि का अभाव होने पर, सर्व भावास्रवों का अभाव हो जाता है, यह यहाँ कहा गया है। *[श्रीसमयसार, कलश 114 के भावार्थ से]*

मिथ्यात्वसहित राग को राग कहा है; मिथ्यात्वरहित चारित्रमोह सम्बन्धी परिणाम को राग नहीं कहा।

[श्रीसमयसार, कलश 137 के भावार्थ से]

मिथ्यात्व है, सो ही संसार है। मिथ्यात्व जाने के बाद, संसार का अभाव ही होता है, समुद्र में एक बूँद की गिनती ही क्या है?

[श्रीसमयसार, गाथा 320 के भावार्थ से]

सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय न होने से, उसे इस प्रकार के भावास्रव तो होते ही नहीं और मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कषायसम्बन्धी बन्ध भी नहीं होता है।

[श्रीसमयसार, गाथा 173 से 176 भावार्थ]

बन्ध होने में मुख्य कारण मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी का उदय ही है..... अनन्त संसार का कारण मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी ही है, उसका अभाव हो जाने पर फिर उनका बन्ध नहीं होता..... वृक्ष की जड़ कट जाने पर, फिर हरे पत्तों की अवधि कितनी?

[श्रीसमयसार, कलश 162 का भावार्थ]

8

दुःख का मूल, मिथ्यात्व; सुख का मूल, सम्यक्त्व

जिसके द्वारा सुख उत्पन्न हो तथा दुःख का विनाश हो, उस कार्य का नाम प्रयोजन है। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 6]*

बाह्य अनुकूल सामग्री मिले, यह प्रयोजन नहीं है क्योंकि इस प्रयोजन से (अनुकूल सामग्री से) कुछ भी अपना हित नहीं होता।

[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 8]

सर्व दुःखों का मूल, यह मिथ्यादर्शन है।

[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 51]

सर्व बाह्य सामग्री में इष्ट-अनिष्टपना मानता है, अन्यथा उपाय करता है, सच्चे उपाय की श्रद्धा नहीं करता, अन्यथा कल्पना करता है, सो इन सबका मूलकारण एक मिथ्यादर्शन है।

[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 51]

सब दुःखों का मूलकारण मिथ्यादर्शन, अज्ञान और संयम है..... मिथ्यादर्शनादिक हैं, वे ही सर्व दुःखों का मूलकारण हैं।

[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 46]

मिथ्यात्व को सप्त व्यसन से भी बड़ा पाप कहा है।

[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 191]

इस भवतरु का मूल एक मिथ्यात्वभाव है।

[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 296]

इस मिथ्यात्व वैरी का अंश भी बुरा है; इसलिए सूक्ष्म मिथ्यात्व भी त्यागने योग्य है। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 193]*

सर्व प्रकार के मिथ्यत्वभाव को छोड़कर, सम्यग्दृष्टि होना योग्य है क्योंकि संसार का मूल मिथ्यात्व है।

[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 268]

मिथ्यत्वभाव को छोड़कर अपना कल्याण करो।

[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 192]

यही भाव दुःखों के बीज हैं; अन्य कोई नहीं। इसलिए हे भव्य! यदि दुःखों से मुक्त होना चाहता है तो इन मिथ्यादर्शनादिक विभावभाव का अभाव करना ही कार्य है; इस कार्य के करने से तेरा परम कल्याण होगा। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 94]*

मिथ्यात्वकर्म अत्यन्त अप्रशस्त है। *[श्री धवला पुस्तक]*

सुख का कारण, स्वभाव प्रतिघात का (द्रव्य-भाव घातिकर्म का) अभाव है। *[श्रीप्रवचनसार, गाथा 31 की टीका]*

इस जीव का प्रयोजन तो एक ही है कि दुःख न हो, सुख हो।

[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 78]

मोक्षमार्ग के प्रतिपक्षी जो मिथ्यादर्शनादिक, उनका स्वरूप बताया। उन्हें तो दुःखरूप, दुःख का कारण जानकर, हेय मानकर उनका त्याग करना.... मोक्ष का मार्ग जो सम्यग्दर्शनादिक हैं, उन्हें सुखरूप, सुख का कारण जानकर, उपादेय मानकर, अंगीकार करना, क्योंकि आत्मा का हित मोक्ष ही है।

दुःख न हो, सुख हो; तथा अन्य भी जितने उपाय करते हैं, वे सब इसी एक प्रयोजनसहित करते हैं; दूसरा प्रयोजन नहीं है।

[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 306]

९

भवितव्य

अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव, आप स्वयं अथवा अन्य सचेतन –अचेतन पदार्थ किसी प्रकार परिणमित हुए, अपने को वह परिणमन बुरा लगा, तब अन्यथा परिणमन करके, उस परिणमन का बुरा चाहता है, परन्तु उनका परिणमन इसके आधीन नहीं है। इस प्रकार क्रोध से बुरा करने की इच्छा तो हो परन्तु बुरा होना या न होना, भवितव्य के आधीन है।

अन्य कोई अपने से उच्च कार्य करे तो उसे किसी उपाय से नीचा दिखाता है। इस प्रकार मान से अपनी महंतता की इच्छा तो हो परन्तु महन्तता होना, भवितव्य आधीन है।

छल–कपट द्वारा अपना अभिप्राय सिद्ध करना चाहता है। इस प्रकार माया से इष्ट सिद्धि के अर्थ छल तो करे परन्तु इष्ट सिद्धि होना, भवितव्य आधीन है।

लोभ से इष्ट प्राप्ति की इच्छा तो बहुत करे परन्तु इष्ट प्राप्ति होना, भवितव्य के आधीन है। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 39]*

श्री गोम्मटसार कर्मकाण्ड में पाँच प्रकार के एकान्तवादियों का कथन आता है, उनका आशय (गाथा 789 से 883) इतना ही है कि इनमें से किसी एक से कार्य की उत्पत्ति मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है और जो कार्य की उत्पत्ति में इन पाँचों के (स्वभाव, पुरुषार्थ, काल, नियति और कर्म) समवाय को स्वीकार करता है, वह सम्यग्दृष्टि

है। पण्डित बनारसीदासजी ने नीचे पद के अनुसार इसी तथ्य की पुष्टि की है -

पद सुभव पूरब उदै निहचै उद्यम काल।
पच्छपात मिथ्यात्व पथ, सरवंगी शिवचाल ॥41॥

अष्ट सहस्त्री पृष्ठ 257 में अकलङ्कदेव ने कहा है:

तादृशी जायते बुद्धि, र्व्यवसायश्च तादृशः।
सहायास्तादृशाः सन्ति, सादृशी भवितव्या॥

अर्थ - जिस जीव की जैसी भवितव्यता (होनहार) होती है, उसकी वैसी ही बुद्धि हो जाती है; वह प्रयत्न भी उसी प्रकार का करने लगता है, और उसे सहायक भी उसके अनुसार मिल जाते हैं। इस श्लोक में भवितव्यता को मुख्यता दी गयी है।

प्रश्न - भवितव्यता क्या है?

उत्तर - जीव की समर्थ उपादानशक्ति का नाम ही तो भवितव्यता है।

प्रश्न - भवितव्यता का व्युत्पत्ति अर्थ क्या है?

उत्तर - 'भवितुं योग्यं भवितव्यम्, तस्य भावः भवितव्यता।' अर्थात्, जो होने योग्य हो, उसे भवितव्य कहते हैं और उसका भाव भवितव्यता कहलाती है।

प्रश्न - भवितव्यता के पर्यायवाची शब्द क्या-क्या हैं?

उत्तर - योग्यता, सामर्थ्य, शक्ति, पात्रता, लियाकत, ताकत - यह सब भवितव्यता के पर्यायवाची शब्द हैं।

[श्रीजैनतत्त्वमीमांसा, पृष्ठ 65-66]

....यदि इनकी सिद्धि हो तो कषाय का उपशमन होने से दुःख दूर हो जावे, सुखी हो; परन्तु उनकी सिद्धि इसके किये उपायों के

आधीन नहीं है, भवितव्य के आधीन है क्योंकि अनेक उपाय करते देखते हैं, परन्तु सिद्धि नहीं होती, तथा उपाय होना भी अपने आधीन नहीं हैं, भवितव्य के आधीन है क्योंकि अनेक उपाय करने का विचार करता है और एक भी उपाय नहीं होता है, तथा काकतालीय न्याय से भवितव्य ऐसा ही हो, जैसा अपना प्रयोजन हो, वैसा ही उपाय हो, और उससे कार्य की सिद्धि भी हो जावे तो उस कार्य सम्बन्धी किसी कषाय का उपशम हो। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 56]*

इस प्रकार कार्य की उत्पत्ति के पूरे कारणों पर दृष्टिपात करने से भी यही फलित होता है कि जहाँ पर कार्य की उत्पत्ति अनुकूलद्रव्य का स्ववीर्यरूप उपादानशक्ति होती है, वहाँ अन्य साधन सामग्री स्वयमेव मिल जाती है; उसे मिलाना नहीं पड़ता है। जैनदर्शन में कार्य को उत्पत्ति के प्रति उपादान और निमित्त होता है, उसका ज्ञान कराया गया है। *[श्रीजैनतत्वमीमांसा, पृष्ठ 67]*

वास्तव में भवितव्यता उस समय पर्याय की योग्यतारूप क्षणिक-उपादानकारण है। जो भी कार्य होता है, उस समय पर्याय की योग्यता ही साक्षात साधक है, दूसरा कोई नहीं। प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में उसकी उस समय पर्याय की योग्यता ही है - ऐसा जानकर स्वभाव की दृष्टि करे तो जीव का कल्याण हो। जो कोई मात्र भवितव्यता की बातें करे, अपनी ओर दृष्टि ना करे तो उसने भवितव्यता को माना ही नहीं। एक कार्य में अनेक कारण होते हैं; कार्य हमेशा उस समय की पर्याय की योग्यता से होता है और निमित्त भी स्वयं उस समय पर्याय की योग्यता से होता ही है; लाना-मिलाना नहीं पड़ता।

प्रश्न - भवितव्यता को किसने माना ?

उत्तर - जिसने अपने स्वभाव की सन्मुखता की, उसने भवितव्यता को माना, दूसरों ने नहीं माना। ●●

10

जीव स्वयं नित्य ही है

आयुकर्म के उदय से मनुष्यादि पर्यायों की स्थिति रहती है। आयु का क्षय हो, तब उस पर्यायरूप प्राण छूटने से मरण होता है। दूसरा कोई उत्पन्न करनेवाला, क्षय करनेवाला या रक्षा करनेवाला है नहीं – ऐसा निश्चय करना। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 42]*

शरीरसम्बन्ध की अपेक्षा जन्मादिक हैं। जीव, जन्मादि रहित नित्य ही है, तथापि मोही जीव को अतीत–अनागत का विचार नहीं है; इसलिए अज्ञानी, प्राप्त पर्यायमात्र ही अपनी स्थिति मानकर, पर्याय सम्बन्धी कार्यों में ही तत्पर हो रहा है। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 43]*

इस लोक में जो जीवादि पदार्थ हैं, वे न्यारे–न्यारे अनादि–निधन हैं। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 110]*

अमूर्तिक प्रदेशों का पुञ्ज, प्रसिद्ध ज्ञानादि गुणों सहित, अनादि –निधन, वस्तु आप है। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 38]*

●●

11

संसारी जीवों का सुख के लिए मिथ्या उपाय

परयुक्त बाधा सहित, खण्डित, बन्ध कारण विषम है।
जो इन्द्रियों से लब्ध ते, सुख ये रीते दु:ख ज खरे ॥73॥

जो इन्द्रियों से प्राप्त किया सुख है, वह पराधीन है, बाधासहित है, विनाशीक है, बन्ध का कारण है, विषम है; अत: ऐसा सुख इस प्रकार दु:ख ही है। *[श्रीप्रवचनसार, गाथा 77]*

नहिं मानतो-ये रीते, पुण्ये पाप माँ न विशेष छै।
ते मोहथी आच्छन्न घोर अपार संसारे भमे ॥62॥

इस प्रकार पुण्य और पाप में अन्तर नहीं है - ऐसा जो नहीं मानता, वह मोहाच्छादित होता हुआ, घोर अपार संसार में परिभ्रमण करता है (क्योंकि पुण्य-पाप, दोनों आत्मा का धर्म नहीं और शुद्धोपयोग -शक्ति का तिरस्कार करनेवाले हैं)।

[श्रीप्रवचनसार, गाथा 77]

सूणी घाति कर्म विहीननु, सुख सौ सुख उत्कृष्ट छै।
श्रद्धे न तेह अभव्य छे, ने भव्य ते सम्मत करे ॥62॥

टीका में — इस लोक में मोहनीय आदि कर्मजालवालों को स्वभाव प्रतिघात के कारण और आकुलता के कारण 'सुखाभास' होने पर भी, 'सुख' कहने की अज्ञानियों की अपरमार्थिक रूढ़ि है।

[श्रीप्रवचनसार, गाथा 62]

...मिथ्यादृष्टि संसारी जीव द्वारा किये गये उपाय झूठे जानना। तो सच्चा उपाय क्या है ?

(1) जब इच्छा दूर हो जावे, और (2) सर्व विषयों का युगपत् ग्रहण बना रहे, तब यह दुःख मिटे। सो इच्छा तो मोह जाने पर मिटे और सब का युगपत् ग्रहण केवलज्ञान होने पर हो। इनका उपाय सम्यग्दर्शनादिक हैं और वही सच्चा उपाय जानना।

[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 50]

संज्ञी पञ्चेन्द्रिय कदाचित् तत्त्वनिश्चय करने का उपाय विचारे, वहाँ अभाग्य से कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र का निमित्त बने तो अतत्त्वश्रद्धान पुष्ट हो जाता है। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 51]*

कदाचित् सुदेव-सुगुरु-सुशास्त्र का भी निमित्त बन जाये तो वहाँ उनके निश्चयउपदेश का तो श्रद्धान नहीं करता, व्यवहारश्रद्धान से अतत्त्वश्रद्धानी ही बना रहता है। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 51]*

अज्ञानी जीव, परपदार्थों को अपनी इच्छानुसार परिणमाना चाहता है, वह बन नहीं सकता, क्योंकि प्रत्येक वस्तु अपनी-अपनी मर्यादा-सहित परिणमित होती है, किसी के परिणमाये से परिणमति नहीं।

मिथ्यादृष्टि होकर पदार्थों को अन्यथा माने, अन्यथा परिणमित कराना चाहे तो आप ही दुःखी होता है। उन्हें यथार्थ मानना और यह परिणमित कराने से अन्यथा परिणमित नहीं होंगे - ऐसा मानना, सो ही दुःख दूर होने का उपाय है। भ्रमजनित दुःख का उपाय, भ्रम दूर करना ही है, सो भ्रम दूर होने पर सम्यक्श्रद्धान होता है, वही सत्य उपाय जानना। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 52]*

आशारूपी गड्ढा प्रत्येक अज्ञानी प्राणी में पाया जाता है। विषयों से इच्छा पूर्ण होती नहीं। इसका अभिप्राय तो सर्व कषायों का

सर्व प्रयोजन सिद्ध करने का है, वह हो तो वह सुखी हो, परन्तु वह कदापि नहीं हो सकता है; इसलिए अभिप्राय में सर्वदा दुःखी ही रहता है; इसलिए कषायों के प्रयोजन को साधकर दुःख दूर करके सुखी होना चाहता है, सो यह उपाय झूठा ही है। तो सच्चा उपाय क्या है ? सम्यग्दर्शन-ज्ञान से यथावत् श्रद्धान और जानना हो, तब इष्ट-अनिष्ट बुद्धि मिटे, तब कषायजन्य पीड़ा दूर हो, निराकुल होने से महासुखी हो; इसलिए सम्यग्दर्शनादिक ही यह दुःख मिटाने का सच्चा उपाय है। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 57]*

व्यवहारधर्म कार्यों में प्रवर्ते, तब अवसर तो चला जावेगा और संसार में ही भ्रमण करेगा। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 313]*

कितने ही धर्मबुद्धि से धर्म साधते हैं परन्तु निश्चयधर्म को नहीं जानते, इसलिए अभूतार्थधर्म को ही साधते हैं।

[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 221]

12

बाह्य सामग्री से सुख-दुःख मानना, भ्रम

बाह्य सामग्री से सुख-दुःख मानते हैं, सो ही भ्रम है।

[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 59]

आकुलता घटना-बढ़ना भी बाह्य सामग्री के अनुसार नहीं; कषायभावों के घटने-बढ़ने के अनुसार है।

आकुलता का घटना-बढ़ना रागादिक कषाय घटने-बढ़ने के अनुसार है तथा परद्रव्यरूप सामग्री के अनुसार सुख-दुःख नहीं है।

बाह्य सामग्री से किञ्चित् सुख-दुःख नहीं है।

[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 309]

सुखी-दुःखी होना इच्छा के अनुसार जानना; बाह्य कारण के आधीन नहीं। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 71]*

पदार्थ अनिष्ट-इष्ट भासित होने से क्रोधादिक होते हैं; जब तत्त्वज्ञान के अभ्यास से कोई इष्ट-अनिष्ट भासित न हो, तब स्वयमेव ही क्रोधादिक उत्पन्न नहीं होते, तब सच्चा धर्म होता है।

[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 229]

सामग्री के अनुसार (आधीन) सुख-दुःख नहीं; साता-असाता का उदय होने पर, मोह के परिणमन के निमित्त से ही सुख-दुःख मानते हैं।

निर्धार करने पर, मोह ही से सुख-दुःख मानना होता है; औरों के द्वारा सुख-दुःख होने का नियम नहीं।

तू सामग्री को दूर करने का या होने का उपाय करके दुःख मिटाना चाहता है और सुखी होना चाहता है, सो यह उपाय झूठा है। तो सच्चा उपाय क्या? सम्यग्दर्शनादि से भ्रम दूर हो, तब सामग्री से सुख-दुःख भासित नहीं होता, अपने परिणामों से ही भासित होता है। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 60]*

जो अपने को सुखदायक हो-उपकारी हो, उसे इष्ट कहते हैं तथा जो अपने को दुःखदायक हो-अनुपकारी हो, उसे अनिष्ट कहते हैं। लोक में सर्व पदार्थ अपने-अपने स्वभाव के ही कर्ता हैं; कोई किसी को सुख-दुःखदायक, उपकारी-अनुपकारी नहीं।

[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 89]

कषायभाव होते हैं, सो पदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानने पर होते हैं, सो इष्ट-अनिष्ट मानना भी मिथ्याबुद्धि है क्योंकि कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट है नहीं। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 89]*

परद्रव्यों का दोष देखना, मिथ्याभाव है।

[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 243]

प्रथम तो परद्रव्यों को इष्ट-अनिष्ट मानना ही मिथ्या है क्योंकि कोई द्रव्य, किसी का मित्र-शत्रु है नहीं।

[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 175]

परद्रव्यों को इष्ट-अनिष्ट मानकर राग-द्वेष करना, मिथ्यात्व है क्योंकि संसार का कोई पदार्थ, इष्ट-अनिष्ट होता तो मिथ्यात्व नाम नहीं पाता परन्तु कोई पदार्थ, इष्ट-अनिष्ट नहीं है और यह इष्ट-अनिष्ट मानकर राग-द्वेष करता है; इसलिए इस परिणमन को मिथ्यात्व कहा है। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 90]*

इसलिए सुख-दुःख का मूल बलवान कारण (निमित्त) मोह का उदय है। अन्य वस्तुएँ हैं, वह बलवान (निमित्त) कारण नहीं हैं *(यह निमित्त की अपेक्षा कथन है।)*[*श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 42*] ●●

13

परपदार्थों का कर्ता-हर्ता आत्मा नहीं

जो कर्म के उपशमादिक हैं, यह पुद्गल की शक्ति है; उसका कर्ता-हर्ता आत्मा नहीं है। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 311]*

तत्त्वनिर्णय न करने में किसी कर्म का दोष है नहीं, तेरा ही दोष है, परन्तु तू स्वयं तो महन्त रहना चाहता है और अपना दोष कर्मादिक को लगाता है, सो जिनआज्ञा माने तो ऐसी अनीति सम्भव नहीं है। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 312]*

...इसका तो कर्तव्य तो तत्त्व निर्णय का अभ्यास ही है; इसी से दर्शनमोह को उपशम तो स्वयमेव होता है, उसमें जीव का कर्तव्य कुछ नहीं है। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 314]*

यहाँ कर्म के उपशमादिक से उपशमादि सम्यक्त्व कहे, सो कर्म के उपशमादिक इसके करने से नहीं होते। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 340]*

जैसे – कोई अपने हाथ में पत्थर लेकर अपना सिर फोड़ ले तो पत्थर का क्या दोष? उसी प्रकार जीव अपने रागादिकभावों से पुद्गल को कर्मरूप परिणमित करके अपना बुरा करे, तो कर्म का क्या दोष? *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 90]*

आप कर्मों के उपशमादि करना चाहें तो कैसे हो? आप तो तत्त्वादिक का निश्चय करने का उद्यम करे, उससे स्वयमेव ही उपशमादि सम्यक्त्व होते हैं। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 277]*

तत्त्वविचारादिक का तो उद्यम करे और मोहकर्म के उपशमादिक स्वयमेव हों, तब रागादिक दूर होते हैं। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 197]*

परद्रव्य का ग्रहण-त्याग आत्मा के हो तो आत्मा, परद्रव्य का कर्ता-हर्ता हो जाए, परन्तु कोई द्रव्य, किसी द्रव्य के आधीन है नहीं। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 252]*

बाह्य व्रतादिक हैं, वे तो शरीरादि परद्रव्य के आश्रित हैं, परद्रव्य का आप कर्ता है नहीं; इसलिए उसमें कर्तापन की बुद्धि भी नहीं करना और वहाँ ममत्व भी करना। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 255]*

परद्रव्य का कर्ता-हर्ता होना तथा साक्षीभूत रहना, यह परस्पर विरुद्ध है। साक्षीभूत तो उसका नाम है, जो स्वयमेव जैसा हो, उसी प्रकार देखता-जानता रहे, परन्तु जो इष्ट-अनिष्ट मानकर किसी को उत्पन्न करे और नाश करे तो साक्षीभूत कैसे कहा जा सकता है? कभी नहीं। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 109]*

कर्म के उदय से जीव को विकार होता है - यह मान्यता भ्रम-मूलक है। 'हे मित्र! ...परद्रव्य ने मेरा द्रव्य मलिन किया, जीव स्वयं ऐसा झूठा भ्रम करता है। ...तू उनका दोष जानता है, यह तेरा हरामजादीपना है।' *[श्री आत्मावलोकन, पृष्ठ 143]*

श्रीसमयसार, कलश 51 से 56, तथा 199 से 201 में स्पष्ट समझाया है कि जीव, शरीरादि परद्रव्य की क्रिया नहीं कर सकता है; और निमित्त से सचमुच कार्य होता है - ऐसा मानना भ्रम है।

मैं परद्रव्य का कर्ता-हर्ता हूँ - ऐसी मान्यतावाला पग-पग पर धोखा खाता है। *[श्रीप्रवचनसार, गाथा 55]*

परद्रव्य का मैं करता हूँ, यह अज्ञान-मोह अन्धकार है, उसका सुलटना अत्यन्त दुर्निवार है। *[श्रीसमयसार, कलश 55]*

मैं परद्रव्य का कर सकता हूँ, यह सम्यक्त्व से रहित पुरुषों का व्यवहार है। *[श्रीसमयसार, गाथा 324 से 327 तक]*

जो व्यवहार के कथन को निश्चय का कथन मानता है, उसके लिए 'तस्य देशना नास्ति' कहा है। *[श्रीपुरुषार्थ सिद्धियुपाय, गाथा 6]*

व्यवहार से लोग, आत्मा को घड़ा, वस्त्र, इन्द्रियों, द्रव्यकर्म और शरीरादि नोकर्म का कर्ता है – ऐसा मानना, व्यवहारी जीवों का व्यामोह (भ्रान्ति अज्ञान) है। *[श्रीसमयसार, गाथा 98]*

●●

(14)

इच्छा के प्रकार और दुःख

दुःख का लक्षण आकुलता है और आकुलता, इच्छा होने पर होती है। अज्ञानी जीवों को अनेक प्रकार की इच्छा पायी जाती हैं।

विषय ग्रहण की इच्छा–इन्द्रियों के विषय, पुद्गल पदार्थों को जानने–देखने की इच्छा होती है, अर्थात् भिन्न–भिन्न रंग, रूप देखने की, राग सुनने की इस इच्छा का नाम विषय है।

एक इच्छा, कषायभावों के अनुसार कार्य करने की है – जैसे किसी का बुरा करने की, उसे नीचा दिखाने की इच्छा होती है, जब तक यह कार्य न हो, तब तक महाव्याकुल रहता है, इस इच्छा का नाम कषाय है।

एक इच्छा, पाप के उदय से शरीर में या बाह्य अनिष्ट कारण मिलते हैं, उनको दूर करने की होती है। जब तक वह दूर न हों, तब तक महाव्याकुल रहता है, इस इच्छा का नाम पाप का उदय है।

इस प्रकार इन तीन प्रकार की इच्छा होने पर सभी मिथ्यादृष्टि दुःख मानते हैं, सो दुःख ही है। इन तीन प्रकार की इच्छाओं में एक –एक प्रकार की इच्छा के अनेक प्रकार हैं।

कितने ही प्रकार की इच्छा पूर्ण होने के कारण, पुण्योदय से मिलते हैं परन्तु उनका साधन एकसाथ नहीं हो सकता है; इसलिए एक को छोड़कर अन्य में लगता है, फिर भी उसे छोड़कर अन्य में लगता है; जैसे, किसी को अनेक प्रकार की सामग्री मिली, वहाँ वह

किसी को देखता है, उसे छोड़कर राग सुनता है, फिर उसे छोड़कर किसी का बुरा करने लग जाता है, उसे छोड़कर भोजन करता है अथवा देखने में ही एक को देखकर, अन्य को देखता है। इसी प्रकार अनेक कार्यों की प्रवृत्ति में इच्छा होती है, इस इच्छा का नाम पुण्य का उदय है, इसे जगत सुख मानता है, परन्तु यह सुख है नहीं; दु:ख ही है।

देवादिकों को भी सुखी मानते हैं, वह भ्रम ही है। उनके चौथी इच्छा की मुख्यता है; इसलिए आकुलित हैं।

इस प्रकार जो इच्छा होती है, वह मिथ्यात्व-अज्ञान-असंयम से होती हैं।

जब मिथ्यात्व-अज्ञान-असंयम का अभाव हो और सम्यग्दर्शन -ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति हो तो इच्छा दूर हो; इसलिए इस कार्य का उद्यम करना योग्य है। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 69 से 71]*

आत्मा का भला, सुख पाने में है और सुख उसे कहते हैं जिसमें आकुलता, चिन्ता, क्लेष ना हो। आकुलता, मोक्ष में नहीं है; इसलिए मोक्ष के मार्ग में लगना चाहिए। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनों की एकता ही मोक्ष का मार्ग है; उसका कथन दो प्रकार से है। जो यथार्थ निश्चयस्वरूप है, वह निश्चय है और निश्चय का निमित्तकारण है, वह व्यवहार है। *[श्री छहढाला, तीसरी ढाल का पहला काव्य]*

●●

15

परम कल्याण

मिथ्यादृष्टि जीव, एक-एक समय करके अनादि से मिथ्यादर्शन -ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित हो रहा है। इसी परिणमन से संसार में अनेक प्रकार का दुःख उत्पन्न करनेवाले कर्मों का सम्बन्ध पाया जाता है। यही भाव, दुखों के बीज हैं; अन्य कोई नहीं, इसलिए हे भव्य! यदि दुःखों से मुक्त होना चाहता है तो इन मिथ्यादर्शनादिक विभावभावों का अभाव करना ही कार्य है; इस कार्य के करने से तेरा परम कल्याण होगा। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 94]*

इस जीव का मुख्य कर्तव्य, आगमज्ञान है; उसके होने से तत्त्वों का श्रद्धान होता है; तत्त्वों का श्रद्धान होने से संयमभाव होता है और उस आगम से आत्मज्ञान की भी प्राप्ति होती है, तब सहज ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। धर्म के अनेक अङ्ग हैं, उनमें ध्यान बिना उसमें ऊँचा और धर्म का अङ्ग नहीं है; इसलिए जिन-तिस प्रकार आगम अभ्यास करना योग्य है; इसके अभ्यास में प्रवर्तो, तुम्हारा कल्याण होगा। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 20]*

हे भव्य! तू यह मान कि 'मेरे अनादि से एक-एक समय करके संसार रोग पाया जाता है; उसके नाश का उपाय (अपने त्रिकाली के आश्रय से) मुझे करना' इस विचार से तेरा कल्याण होगा।

[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 44]

हे भव्य! तू संसार से छूटकर सिद्धपद प्राप्त करने का, हम जो

उपाय कहते हैं, वह कर; विलम्ब मत कर। यह उपाय करने से तेरा कल्याण होगा। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 75]*

अन्य सब मत मिथ्यादर्शनादिक के पोषक हैं, सो त्याज्य हैं। सच्चे जिनधर्म का स्वरूप जानकर, उसमें प्रवर्तन करने से तुम्हारा कल्याण होगा। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 167]*

इसलिए बहुत कहने से क्या? सर्वथा प्रकार कुदेव-कुगुरु-कुधर्म का त्यागी होना योग्य है। वर्तमान में (दिगम्बरधर्म में भी) इनकी प्रवृत्ति विशेष पायी जाती है; इसलिए उसे जानकर, मिथ्यात्वभाव को छोड़कर अपना कल्याण करो। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 192]*

सर्व प्रकार के मिथ्यात्वभाव को छोड़कर सम्यग्दृष्टि होना योग्य है। संसार का मूल, मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व के समान अन्य पाप नहीं है। मिथ्यात्व का अभाव होने पर शीघ्र ही मोक्ष पद को प्राप्त करता है; इसलिए जिस तिस प्रकार से सर्व प्रकार से मिथ्यात्व का नाश करना योग्य है। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 267]*

मोक्षमार्ग में पहला उपाय आगमज्ञान कहा है; आगमज्ञान बिना धर्म का साधन नहीं हो सकता; इसलिए तुम्हें भी यथार्थ बुद्धि द्वारा आगम का अभ्यास करना। तुम्हारा परम कल्याण होगा।

[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 305]

हे भव्य! इतना ही सत्य कल्याण (आत्मा) है, जितना यह ज्ञान है - ऐसा निश्चय करके, ज्ञानमात्र से ही सदा ही रति प्राप्त कर, इससे तुझे वचन अगोचर ऐसा सुख प्राप्त होगा और उस सुख को उसी क्षण तू ही स्वयमेव देखेगा; दूसरों से पूछना नहीं पड़ेगा।

[श्रीसमयसार, गाथा 206]

16

प्रत्येक जीवात्मा, भिन्न-भिन्न है

प्रत्येक जीवात्मा को भिन्न-भिन्न मानता है, सो यह तो सत्य है परन्तु मुक्त होने के पश्चात् भी भिन्न ही मानना योग्य है।

[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 128]

इस लोक में जीवादि पदार्थ हैं, वे न्यारे-न्यारे अनादि-निधन हैं; तथा उनकी अवस्था का परिवर्तन होता रहता है, उस अपेक्षा से उत्पन्न-विनष्ट कहे जाते हैं। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 110]*

एक जीवद्रव्य; उसके अनन्त गुण; अनन्त पर्यायें; एक-एक गुण के असंख्यात प्रदेश; एक-एक प्रदेश में अनन्त कर्मवर्गणाएँ; एक-एक कर्मवर्गणा में अनन्त-अनन्त पुद्गल परमाणु; एक-एक पुद्गलपरमाणु, अनन्त गुण-अनन्त पर्यायसहित विराजमान है। यह एक संसार अवस्थित जीव पिण्ड की अवस्था। इसी प्रकार अनन्त जीवद्रव्य, संसार अवस्था में सपिण्डरूप जानना (और मोक्ष में प्रत्येक जीव, जुदा-जुदा अनन्त गुण और पर्यायसहित अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में विराजमान है।)

[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, परमार्थ वचनिका, पृष्ठ 10]

17

जीव का सदैव कर्तव्य

जीवाजीवादीनां तत्वार्थानां सदैव कर्तव्यम्।
श्रद्धान विपरीताभिनिवेश विविक्तमात्मरूपं तत् ॥22॥

अर्थात्, जीव-अजीवादि तत्त्वार्थों का विपरीताभिनिवेशरहित, अर्थात् अन्य को अन्यरूप समझनेरूप जो मिथ्याज्ञान है, उससे रहित श्रद्धान निरन्तर ही करना कर्तव्य है, क्योंकि वह श्रद्धान ही आत्मा का स्वरूप है। *[श्रीपुरुषार्थसिद्ध्युपाय, गाथा 22]*

विपरीताभिनिवेश से रहित जीव-अजीवादि तत्त्वार्थों का श्रद्धान सदा काल करना योग्य है। यह श्रद्धान, आत्मा का स्वरूप है। दर्शनमोह उपाधि दूर होने पर प्रगट होता है; इसलिए आत्मा का स्वभाव है। चतुर्थादि गुणस्थान में प्रगट होता है, पश्चात् सिद्ध अवस्था में भी सदा काल इसका सद्भाव रहता है - ऐसा जानना।
[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 320 से 321]

18

सर्व उपदेश का तात्पर्य

संसार अवस्था में पुण्य के उदय से इन्द्र–अहमिन्द्रादि पद प्राप्त करे, तो भी निराकुलता नहीं होती; दुःखी ही रहता है; इसलिए संसार अवस्था हितकारी नहीं है। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 310]*

मोक्ष अवस्था में किसी प्रकार की आकुलता नहीं रही; इसलिए आकुलता मिटाने का उपाय करने का भी प्रयोजन नहीं है। सदा काल शान्तरस से सुखी रहते हैं; इसलिए मोक्ष अवस्था ही हितकारी है। पहले भी संसार अवस्था के दुःख का और मोक्ष अवस्था के सुख का विशेष वर्णन किया है, वह इसी प्रयोजन के अर्थ किया है। उसे भी विचारकर, मोक्ष को हितरूप मानकर, मोक्ष का उपाय करना, सर्व उपदेश का तात्पर्य इतना है। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 310]*

इसलिए अवसर चूकना योग्य नहीं है। अब सर्व प्रकार से अवसर आया है, ऐसा अवसर प्राप्त करना कठिन है। इसलिए श्रीगुरु दयालु होकर मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं, उसमें भव्य जीवों को प्रवृत्ति करना। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 315]*

तत्त्वार्थश्रद्धान करने का अभिप्राय, केवल उनका निश्चय करनामात्र ही नहीं है; यहाँ अभिप्राय ऐसा है कि जीव–अजीव को पहिचानकर, अपने को तथा पर को जैसा का तैसा माने; तथा आस्रव को पहिचानकर कर उसे हेय माने; तथा बन्ध को पहिचानकर उसे अहित का कारण माने; संवर को पहिचानकर उसे उपादेय माने; तथा

निर्जरा को पहिचानकर उसे हित का कारण माने; तथा मोक्ष को पहिचानकर उसे अपना परम हित माने – ऐसा तत्त्वार्थश्रद्धान का अभिप्राय है। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 320]*

आश्रय करने के लिए एकमात्र अपना त्रिकाली एक परम शुद्ध पारिणामिकभाव ही है, यह परम उपादेय है; संवर-निर्जरा एकदेश प्रगट करने के लिए उपादेय हैं; मोक्ष, पूर्ण प्रगट करने के लिए उपादेय है; हित का कारण है, परमहित है परन्तु आश्रय करने के लिए नहीं है। आस्रव-बन्ध, पुण्य-पाप, हेय हैं और अजीव, ज्ञेय हैं। *[श्रीनियमसार, गाथा 38 से 50 तक का सार]*

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेववोत्पत्तिर्हिंसेति, जिनागमस्य संक्षेपः ॥44॥

अर्थात्, वास्तव में रागादि भावों का प्रगट न होना, यह अहिंसा है और उन्हीं रागादि भावों की उत्पत्ति होना, हिंसा है – यही जैन सिद्धान्त का संक्षिप्त रहस्य है। *[श्रीपुरुषार्थसिद्ध्युपाय, गाथा 44]*

जीव जुदा है, पुद्गल जुदा है, यही तत्त्व का सार है; अन्य जो कुछ कथन है, सब इसी का विस्तार है। *[श्रीइष्टोपदेश, गाथा 50]*

लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ।
तोरि सकल जग दन्द-फन्द, नित आतम ध्याओ॥

[श्रीछहढाला, चौथी ढाल]

निश्चयधर्म तो मात्र वीतरागभाव है, यह ही धर्म है, यह जिनागम का सार है। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 233 से]*

मिथ्यात्व ही संसार है; सम्यक्त्व ही मोक्ष है।

[सर्व शास्त्रों का रहस्य]

19

सम्यग्दर्शन का लक्षण

विपरीताभिनिवेशरहित जीवादिक तत्त्वार्थश्रद्धान, वह सम्यग्दर्शन का लक्षण है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष – यह सात तत्त्वार्थ हैं। इनका जो श्रद्धान, ऐसा ही है; अन्यथा नहीं है – ऐसा प्रतीतिभाव, सो तत्त्वार्थश्रद्धान तथा विपरीताभिनिवेश, जो अन्यथा अभिप्राय, उससे रहित, सो सम्यग्दर्शन है। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 317]*

जो तत्त्वार्थश्रद्धान, विपरीताभिनिवेशरहित है, वही सम्यग्दर्शन है।

विपरीताभिनिवेश से रहित जीव–अजीवादि तत्त्वार्थों का श्रद्धान, सदा काल करने योग्य है, यह श्रद्धान, आत्मा का स्वरूप है।

[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 320]

सम्यग्दर्शनरूप श्रद्धान का बल इतना है कि केवली –सिद्धभगवान, रागादिक परिणमितरूप नहीं होते, संसार अवस्था को नहीं चाहते। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 324]*

सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धान, व आपा–पर का श्रद्धान व आत्मश्रद्धान व देव, गुरु, धर्म का श्रद्धान, यह सम्यक्त्व का लक्षण है; इन सर्व लक्षणों में परस्पर एकता भी है। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 329]*

श्री अरहन्तदेव के जो गुण कहे हैं, उनमें कितने तो विशेषण पुद्गलाश्रित हैं और कितने ही जीवाश्रित हैं। जीव के यथावत्

विशेषण जाने तो मिथ्यादृष्टि न रहे। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 221]*

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग, वह ही मुनियों का सच्चा लक्षण है; उसकी पहिचान हो जावे तो मिथ्यादृष्टि रहे नहीं। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 223]*

वीतरागी शास्त्रों में अनेकान्तरूप सच्चे जीवादि तत्त्वों का निरूपण है और सच्चा रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग दिखलाया है, उसी से जैनशास्त्रों की उत्कृष्टता है; उसकी पहिचान हो जावे तो मिथ्यादृष्टिपना रहता नहीं। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 224]*

सर्व प्रकार प्रसिद्ध जानकर विपरीताभिनिवेशरहित जीवादि तत्त्वार्थों का श्रद्धान, सो ही सम्यक्त्व का लक्षण है।

[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 332]

जो वास्तव में अरहन्तदेव को द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानता है, वह वास्तव में आत्मा को जानता है। उसी समय त्रिकाली आत्मा को समझ लेनेवाला जीव, चिद्विवर्तों (पर्याय) को चेतन (द्रव्य) में ही अन्तर्गत करके; चैतन्य (गुण) को चेतन (द्रव्य) में ही अन्तर्हित करके, केवल आत्मा को जानता है; उसको कर्ता, कर्म, क्रिया का विभाग क्षय को प्राप्त हो जाने से निष्क्रिय (रागरहित) चिन्मात्रभाव (निर्विकल्पदशा) को प्राप्त हो जाता है, यह सम्यग्दर्शन है। यह निर्विकल्प तथा निष्क्रियदशा है।

[श्रीप्रवचनसार, गाथा 80]

ज्ञेय-अधिकार में सम्यक्त्व की व्याख्या की है -

तम्हा तस्स णमाई किच्चा णिच्चंपि तम्मणो होज्ज।
वोच्छामि संगहादो परमट्ठविणिच्छयाधिगमं॥1॥

अर्थात्, क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना साधु होता ही नहीं है। इस कारण से उस सम्यक्त्वसहित सम्यक्चारित्र से युक्त साधु को

नमस्कार करके, नित्य ही उन साधुओं को मन में धारण करके, परमार्थ शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावरूप परमात्मा है, उसको विशेष करके, संशय आदि से रहित निश्चय करानेवाले सम्यक्त्व को, अथवा अनेक धर्मरूप पदार्थों के समूह का अधिगम जिसमें होता है, उसको संक्षेप में कहूँगा। (वहाँ जिन परमात्मा को, परमार्थ शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावरूप है, उसकी श्रद्धा को सम्यक्त्व कहा है।)

[श्रीप्रवचनसार, जयसेनाचार्य, ज्ञेय-अधिकार के शुरु में]

दर्शनमात्मविनिश्चिति अर्थात्, अपनी आत्मा का श्रद्धान, सम्यग्दर्शन कहा है और विनिश्चित का अर्थ अपनी आत्मा किया है। *[श्रीपुरुषार्थसिद्धियुपाय, गाथा 216]*

आ जाणी, शुद्धात्मा बनी, ध्यावे परम निज आत्मने।
साकार अण-आकार हो, ते मोहग्रन्थी क्षय करे ॥194॥

टीका- इस यथोक्त (गाथा 192-193) विधि द्वारा शुद्ध आत्मा को जो ध्रुव जानता है, उसको उसमें ही लीनता द्वारा शान्ति-आनन्दरूप शुद्धात्मतत्त्व प्राप्त होता है; इसलिए अनन्त शक्तिवाला चैतन्यमात्र परम आत्मा में एकाग्रसञ्चेतन लक्षण ध्यान होता है; उससे साकार उपयोगवाला व अनाकार उपयोगवाले को विशेषरूप से एकाग्र सञ्चेतन की प्रसिद्धि होने से अनादि संसार से बँधी हुई अतिदृढ़ मोह दुर्ग्रन्थी छूट जाती है। इस प्रकार दर्शनमोहरूपी गाँठ का भेदना -तोड़ना, वह शुद्धात्मा की उपलब्धि का फल है।

[श्रीप्रवचनसार, गाथा 194 की टीका सहित]

सम्यग्दृष्टि का ज्ञान (1) आनन्दरूपी अमृत का नित्य भोजन करनेवाला है, (2) अपनी जाननेरूप क्रिया / अवस्था को प्रगट करनेवाला है, (3) धीर है, (4) उदार (अर्थात्, महान विस्तारवाला, निश्चित) है। (5) अनाकुल है (अर्थात्, जिसमें किञ्चित भी

आकुलता का कारण नहीं है)। (6) उपाधिरहित है (अर्थात्, परिग्रह या जिसमें कोई परद्रव्य सम्बन्धी ग्रहण-त्याग नहीं है)। सम्यग्दर्शन होते ही अमृतरूप आनन्द प्रगट होता है, वह जीव उसे हर समय भोगता है। *[श्रीसमयसार, कलश 163]*

जब आत्मा, ज्ञानी होता है, तब ज्ञान के कारण, ज्ञान के प्रारम्भ से (चौथे गुणस्थान से) लेकर पृथक्-पृथक् स्वाद का अनुभव होने से (पुद्गलकर्म और अपने स्वाद का एकरूप नहीं, किन्तु भिन्न-भिन्नरूप अनुभव होने से) जिसकी भेद संवेदनशक्ति प्रगट हो गयी है, ऐसा होता है; इसलिए वह जानना है कि 'अनादि-निधन, निरन्तर स्वाद में आनेवाला, समस्त अन्य रसों से (शुभाशुभभावों से) विलक्षण (भिन्न), अत्यन्त मधुर चैतन्यरस ही एक जिसका (अनाकुलता) रस है, ऐसा आत्मा है; और कषायें (शुभाशुभभाव) उससे (आत्मा से) भिन्न रसवाली हैं, उनके साथ (शुभाशुभ और आत्मा में) जो एकत्व का विकल्प करना है, वह अज्ञान से है।'

इस प्रकार पर को (शुभाशुभभाव) और अपने को भिन्नरूप जानता है; इसलिए अकृत्रिम (नित्य) एक ज्ञान ही मैं हूँ, किन्तु कृत्रिम (अनित्य) अनेक जो क्रोधादिक हैं, यह मैं नहीं हूँ - ऐसा जानता हुआ 'मैं क्रोध हूँ इत्यादि आत्मविकल्प भी किञ्चितमात्र भी नहीं करता;' इसलिए समस्त (द्रव्यकर्म, नोकर्म, भावकर्म) के कर्तव्य को छोड़ देता है; अतः सदा ही उदासीन (निर्विकल्प) अवस्थावाला होता हुआ, मात्र जानता ही रहता है; और इसलिए निर्विकल्प, अकृत्रिम, एक विज्ञानधन होता हुआ अत्यन्त अकर्ता प्रतिभासित होता है। *[श्रीसमयसार, गाथा 97 की टीका]*

जब यही आत्मा जिनाज्ञा द्वारा मार्ग को प्राप्त करके उपशान्त, क्षीणमोहपने के कारण (दर्शनमोह के उपशम, क्षय, क्षयोपशम के

कारण) जिसे विपरीताभिनिवेश नष्ट हो जाने से, सम्यग्ज्ञान ज्योति प्रगट हुई है, ऐसा होता हुआ कर्तृत्व और भोकृत्व के अधिकार को समाप्त करके, सम्यक्रूप से प्रगट प्रभुत्वशक्तिवान होता हुआ, ज्ञान का ही अनुसरण करनेवाले मार्ग में विचरता है, (प्रवर्तता है, परिणमित होता है, आचरण करता है), तब वह विशुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धिरूप अपवर्गनगर को (मोक्षपुर को) प्राप्त करता है।

[श्रीपञ्चास्तिकाय, गाथा 70 की टीका से]

[यहाँ उपशमसम्यक्त्व प्राप्त होने पर, जीव, जिनाज्ञा द्वारा मार्ग को प्राप्त हुआ, अर्थात् चौथे गुणस्थान से मार्ग प्राप्त होता हुआ। जैसे-जैसे अपने स्वभाव की एकाग्रता करता जाता है, वैसे-वैसे श्रावक, मुनि, श्रेणी, सिद्धदशा को प्राप्त कर लेता है क्योंकि उसको सम्यग्ज्ञान ज्योति प्रगट हो गयी है।]

ऐसे दर्शनमोह के अभावतैं सत्यार्थश्रद्धान, सत्यार्थज्ञान प्रगट होय है; अरु अनन्तानुबन्धी के अभावतैं स्वरूपाचरणचरित्र, सम्यग्दृष्टि के प्रगट होय है। यद्यपि अप्रत्याख्यानावरण के उदयतैं देशचारित्र नाहिं भया है, अरु प्रत्याख्यानावरण का उदयतैं सकलचारित्र नाहीं प्रगट भया है तो हूँ सम्यग्दृष्टि के देहादिक परद्रव्य तथा राग-द्वेषादिक कर्मजनित परभाव, इनमें दृढ़ भेदविज्ञान ऐसा भया है जो अपना ज्ञानदर्शनरूप ज्ञानस्वभाव ही में आत्मबुद्धि धारनें तैं अर पर्याय में आत्मबुद्धि स्वप्न में हूँ नाहिं होने से, ऐसा चिन्तवन करै है, हे आत्मन्! अष्ट प्रकार स्पर्श........ ये समस्त कर्म का उदय जनित विकार है; मेरा स्वरूप तो ज्ञाता-दृष्टा है।

[श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, गाथा 41 की टीका]

स्वसंवेदनज्ञान प्रथम अवस्था में चौथे, पाँचवें गुणस्थानवाले गृहस्थ के भी होता है। वहाँ पर सराग देखने में आता है; इसलिए रागसहित अवस्था के निषेध के लिए, वीतराग स्वसंवेदनज्ञान चौथे

-पाँचवें गुणस्थानी को प्रगट हुआ है।

[श्रीपरमात्मप्रकाशक, गाथा 12 की टीका]

मिथ्यात्व तथा राग आदि को जीतने के कारण असंयत सम्यग्दृष्टि आदि एकदेश जिन हैं। *[श्रीबृहत द्रव्यसंग्रह, गाथा 1 टीका]*

स्वाभाविक अनन्त ज्ञान आदि अनन्त गुण का आधारभूत निज परमात्मद्रव्य उपादेय है तथा इन्द्रियसुख आदि (द्रव्यकर्म, नोकर्म, भावकर्म) परद्रव्य त्याज्य हैं; इस तरह सर्वज्ञदेव प्रणीत निश्चय -व्यवहारनय को साध्य-साधकभाव से जानता है,...यह अविरत सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थानवर्ती का लक्षण है।

[श्रीवृहत द्रव्यसंग्रह, गाथा 13 की टीका]

'**जीवादि सद्दहणं सम्मत्त**' वीतराग-सर्वज्ञदेव द्वारा कहे हुए शुद्ध जीव आदि तत्त्वों में चल, मलिन, अगाढ़ दोषरहित श्रद्धान, रुचि अथवा 'जो जिनेन्द्र ने कहा, वही है; जिस प्रकार जिनेन्द्र ने कहा है, उसी प्रकार है' - ऐसी निश्चयरूप बुद्धि (निर्णयरूप ज्ञान) सम्यग्दर्शन, आत्मा का परिणाम है। *[श्रीवृहत द्रव्यसंग्रह, गाथा 41 टीका]*

मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों के उपशमादि होने पर, अथवा अध्यात्मभाषा के अनुसार निज शुद्ध आत्मा के सन्मुख परिणाम होने पर, शुद्ध आत्मभावना से उत्पन्न यथार्थ सुखरूपी अमृत को उपादेय करके, संसार-शरीर और भोगों में जो हेयबुद्धि है, वह सम्यग्दर्शन से शुद्ध है, वह चतुर्थ गुणस्थानवाला व्रतरहित दार्शनिक है।

[श्रीवृहत द्रव्यसंग्रह, गाथा 45 टीका]

व्यवहारनय अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है - ऐसा ऋषिश्वरों ने बताया है। जो जीव, भूतार्थ का आश्रय लेता है, वह जीव निश्चय से सम्यग्दृष्टि है। *[श्रीसमयसार, गाथा 11]*

20

जीव को सम्यक्त्व क्यों नहीं

जीव का द्रव्यकर्म, नोकर्म से तो किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है परन्तु अनादि से अज्ञानी जीव, एक-एक समय करके कर्मकृत शुभाशुभभावों की, जो अपने साथ एकमेक नहीं हैं; पृथक हैं परन्तु उनके साथ एकत्व करता है; इसलिए सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती।

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम्॥14॥

अर्थात्, इस प्रकार यह आत्मा, कर्मकृत भावों से (कर्म का उदय है निमित्त जिनमें ऐसे दया, दान पूजा यात्रा आदि विभावभावों से) संयुक्त न होने पर भी (स्वभाव और विभाव का तादात्म्य न होने पर भी, एक द्रव्य न बन जाने पर भी, पारिणामिक और विभावभाव एक न होने पर भी) संयुक्त सरीखा (एक द्रव्य सरीखा) प्रतिभासित होना ही, निश्चय करके संसार का बीज है। अर्थात्, ध्रुवस्वभाव और क्षणिक विभाव की एक एकता की मान्यता को ही मिथ्यात्व कहते हैं, यह मिथ्यात्व का पक्का लक्षण है। *[श्रीपुरुषार्थसिद्धियुपाय, गाथा 14]*

जिन्हें संयोगसिद्धसम्बन्ध है – ऐसे आत्मा और क्रोधादि आस्रवों में भेदज्ञान न होने से ही सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता।

[श्रीसमयसार, गाथा 69-70 का सार]

स्व-पर का विवेक न होने से सम्यक्त्व नहीं होता।

[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 46]

जीवादि सात तत्त्व, जो प्रयोजनभूत हैं, इनका उल्टा श्रद्धान होने से सम्यक्त्व नहीं होता है। *[श्री छहढाला, दूसरी ढाल]*

अपनी आत्मा को छोड़कर अनन्त आत्माएँ, अनन्तानन्त पुद्गल, धर्म-अधर्म-आकाश एक-एक, लोकप्रमाण असंख्यात कालद्रव्य तथा शुभाशुभभावों के साथ एकत्वबुद्धि, एकत्व का ज्ञान, एकत्व का आचरण होने से सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती है। ●●

21

वस्तु का परिणमन बाह्य कारणों से निरपेक्ष

मिथ्यादृष्टि, शास्त्रों का अभ्यासी कहता है कि कर्म के उदय से विकार होता है और जीव, विकार करे तो नया बन्ध होता है। विकार स्वतन्त्र है और कर्म का उदय-उपशमादि स्वतन्त्र है – यह बात तुमने कहाँ से निकाली? – ऐसे अज्ञानी के समझाने के लिए श्री वीरसेन स्वामी ने जयधवला, पुस्तक सातवीं, पृष्ठ 177 के प्रारम्भ में लिखा है। कि – **'बज्झ कारण निरपेक्खो वत्थु परिणामो'** अर्थात्, वस्तु का परिणमन, बाह्य कारणों से निरपेक्ष होता है।

आचार्य भगवान ने यह कथन विकारी परिणामों के सम्बन्ध में कहा है क्योंकि जीव अपने दोष से अज्ञानी रहता है – ऐसा होने पर भी अपना दोष, बाह्य कारणों के ऊपर लगाता है।

सर्व द्रव्यों की प्रत्येक पर्याय में यह छह कारक एक साथ बर्तते हैं; इसलिए आत्मा और पुद्गल, शुद्धदशा में या अशुद्धदशा में स्वयं छहों कारकरूप परिणमन करते हैं और दूसरे कारकों की (निमित्तकारकों की) अपेक्षा नहीं रखते हैं। *[श्रीपञ्चास्तिकाय, गाथा 62 टीका सहित]*

निश्चय से पर के साथ आत्मा का कारकपने का सम्बन्ध नहीं है कि जिससे शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्ति के लिए सामग्री (बाह्य साधन) खोजने की व्यग्रता से जीव (व्यर्थ ही) परतन्त्र होते हैं।

[श्रीप्रवचनसार, गाथा 16 की टीका]

अज्ञानी जीव को समझाने के लिए आचार्यदेव उपदेश देते हैं

कि राग-द्वेष की उत्पत्ति, अज्ञान से आत्मा में ही होती है और वे आत्मा के अशुद्धपरिणाम हैं; इसलिए अज्ञान का नाश करो; सम्यग्ज्ञान प्रगट करो; आत्मा ज्ञानस्वरूप है – ऐसा अनुभव करो; परद्रव्य को राग-द्वेष उत्पन्न करनेवाला मानकर, उस पर कोप न करो।

[श्रीसमयसार, कलश 220 का भावार्थ]

वास्तव में कोई भी पर्याय हो, चाहे विकारी हो या अविकारी हो, वह निरपेक्ष है; उसका दूसरा कोई कारण नहीं है क्योंकि एक पर्याय का उसकी पहली पर्याय और अगली पर्याय से सम्बन्ध नहीं है; तब उस पर्याय को दूसरा करे, यह बात कहाँ से आयी ? अज्ञानता में से आयी। ●●

22

वासना का प्रकार

प्रतीति करने में आता हुआ वह इन्द्रियजनित सुख, दुःख है। **प्रश्न** - कैसे है? **उत्तर** - वह केवल वासनामात्र है। जीव को (देहादि पदार्थों) उपकारक तथा अपकारक नहीं होने से परमार्थ से देहादि (पदार्थ) विषै वह उपेक्षणीय है। उसमें तत्त्वज्ञान के अभाव से 'यह मुझे उपकारक होने से इष्ट है और अपकारक होने से अनिष्ट है' - ऐसे विभ्रम से उत्पन्न हुआ संस्कार, वह वासना है। वह (वासना, इष्ट-अनिष्ट पदार्थों के अनुभव के अनन्तर उत्पन्न हुआ स्व-संवैद्य अभिमानयुक्त परिणाम है, वह वासना ही है; स्वभाविक आत्मा का स्वरूप नहीं। [नोट-इस स्व संवैद्य अभिमानयुक्त परिणाम को मिथ्यात्वपूर्वक का अनन्तानुबन्धी मान कहा जाता है। इस वासना का अभाव, सम्यग्दर्शन होने पर ही होता है।]'

[श्रीइष्टोपदेश, गाथा 6 की टीका में]

...परन्तु जब द्रव्य को द्रव्य प्राप्त करने में आवे (अर्थात्, द्रव्य को द्रव्य प्राप्त करता है, पहुँचता है - ऐसा द्रव्यार्थिकनय में कहा जाता है, तब समस्त गुणवासना का उन्मेश अस्त हो जाता है - ऐसा वह जीव को 'शुक्ल वस्त्र ही है' इत्यादि की भाँति, ऐसा द्रव्य ही है - ऐसा समस्त ही अतद्भाविक भेद निमग्न होता है। राग-द्वेष-मोह की वासना अनादि से एक-एक समय करके है। (नोट - यहाँ गुण-गुणी के भेद को वासना का उन्मेश कहने में आया है क्योंकि भेद से भी राग उत्पन्न होता है।) *[श्रीप्रवचनसार, गाथा 98 की टीका से]*

जिन जीवों के तत्त्वज्ञान नहीं है, वे यथार्थ आचरण नहीं आचरते। वही विशेष बतलाते हैं - कितने ही जीव पहले तो प्रतिज्ञा धारण कर बैठते हैं, परन्तु अन्तरङ्ग में विषय-कषाय वासना, मिटी नहीं है; इसलिए जैसे-तैसे प्रतिज्ञा पूरी करना चाहते हैं। वहाँ उस प्रतिज्ञा से परिणाम दुःखी होते हैं। जैसे—कोई बहुत उपवास कर बैठता है और पश्चात् पीड़ा से दुःखी हुआ, रोगी की भाँति काल गँवाता है; धर्म साधन नहीं करता। तो प्रथम सधती जाने उतनी ही प्रतिज्ञा क्यों न लें? दुःखी होने में तो आर्त्तध्यान हो, उसका फल अच्छा कैसे लगेगा? विषय-वासना नहीं छुटी थी, तो ऐसी प्रतिज्ञा किसलिए की? क्योंकि वहाँ तो उल्टा रागभाव तीव्र होता है। (नोट—यहाँ पर जीव को विषयवासना और कषायवासना अनादि से एक-एक समय करके चली आ रही है - ऐसा बताया है। सम्यग्दर्शन के बिना इस वासना का अभाव नहीं हो सकता।)

[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 238 से 239]

देवगति में विषयवासना है और कषायवासना भी कहते हैं।

[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 317]

प्रतिज्ञा के प्रति निरादरभाव न हो, परिणाम चढ़ते रहे - ऐसी जिनधर्म की आम्नाय है। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 239]*

किसी ने प्रतिज्ञा द्वारा विषय प्रवृत्ति रोक रखी थी, अन्तरङ्ग आसक्ति बढ़ती गयी और प्रतिज्ञा पूर्ण होते ही अत्यन्त विषय प्रवृत्ति होने लगी; सो प्रतिज्ञा के काल में विषयवासना मिटी नहीं। आगे-पीछे उसके बदले अधिक राग किया, सो फल तो रागभाव मिटने से होगा; इसलिए जितनी विरक्ति हुई हो, उतनी ही प्रतिज्ञा करना।

[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 240]

भावशुद्धि के बिना गृहस्थपना छोड़े तो मुनिपना कैसे हो?

उसका फल अच्छा कैसे होय? कभी नहीं होय। उसको शुभभाव की वासना मिटती नहीं। मुनिलिङ्ग का वेश धारण करके स्वयं विवाह न करे, तो भी गृहस्थों को विवाहादि की बातें बताये, सम्बन्ध कराये, बैटरी आदि रक्खे, जीव-हिंसा स्वयं करें और गृहस्थ के पास से करावे तो पापी होकर नरक में जाता है। *[श्रीलिङ्गपाहुड़, गाथा 9]*

....परन्तु अल्प परिग्रह ग्रहण करने का फल निगोद में कहा है, तब ऐसे पापों का फल तो अनन्त संसार ही होगा।

[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 279]

सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना, विषय और कषाय की वासना का अभाव नहीं होता है; इसलिए प्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करना पात्र जीव का प्रथम कर्तव्य है। ●●

23

अन्तरङ्ग श्रद्धा और उसका फल, केवलज्ञान

(अ) कर्मोदयजनित शुभाशुभरूप कार्य करता हुआ तद्रूप परिणमित हो, तथापि अन्तरङ्ग में ऐसा श्रद्धान है कि यह कार्य मेरा नहीं है। यदि शरीराश्रित व्रत-संयम को भी अपना माने तो मिथ्यादृष्टि होता है। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, चिट्ठी में पृष्ठ 2]*

(आ) जो ज्ञान, मति-श्रुतरूप हो प्रवर्तता है, वही ज्ञान बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञानरूप होता है। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, चिट्ठी पृष्ठ 2]*

(इ) (1) निर्विकल्पदशा में केवल आत्मा को ही जानता है, एक तो यह विशेषता है।

(2) मात्र स्वरूप से ही तादात्म्यरूप होकर प्रवृत्त हुआ, यह दूसरी विशेषता है।

(3) ऐसी विशेषाताएँ होने पर कोई वचनातीत ऐसा अपूर्व आनन्द होता है, जो कि विषय सेवन में उसकी जाति का अंश भी नहीं है; इसलिए उस आनन्द को अतीन्द्रिय कहते हैं।

[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, चिट्ठी पृष्ठ 6-7]

(ई) भला यह है कि चैतन्यस्वरूप के अनुभव का उद्यमी रहना। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, चिट्ठी पृष्ठ 9]*

सम्यग्दृष्टि को स्व-पर में न संशय, न विमोह, न विभ्रम; यथार्थ दृष्टि है; इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव, अन्तर्दृष्टि से मोक्षपद्धति

को साधना जानता है। बाह्यभाव, बाह्य निमित्तरूप मानता है, वह निमित्त नानारूप हैं, एकरूप नहीं है। अन्तदृष्टि के प्रमाण में मोक्षमार्ग साधे और सम्यग्ज्ञान, स्वरूपाचरण की कणिका जागने पर मोक्षमार्ग सच्चा। मोक्षमार्ग को साधना, वह व्यवहार; शुद्धद्रव्य अक्रियारूप, सो निश्चय। इस प्रकार निश्चय-व्यवहार का स्वरूप, सम्यग्दृष्टि जानता है; मूढ़जीव न जानता है, न मानता है।

[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, परमार्थ-वचनिका, पृष्ठ 13-14]

(उ) सम्यग्दर्शन होने पर नियम से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, चाहे देर लगे; इसलिए जिसकी अन्तरङ्ग श्रद्धा सच्ची है, उसका फल, केवलज्ञान है। सम्यग्दृष्टि के ज्ञान में और केवलज्ञान में जानने में अन्तर नहीं है; मात्र प्रत्यक्ष-परोक्ष का भेद है। ●●

24

मूढ़ता के प्रकार

1. देवमूढ़ता, 2. गुरुमूढ़ता, 3. लोकमूढ़ता

(अ) आप्त, आगम और पदार्थों में जिस जीव को श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई तथा उसका चित्त त्रण मूढ़ताओं से व्याप्त है, जो त्रण मूढ़ता से व्याप्य होय, उसे संयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

[श्रीधवला पुस्तक 1, पृष्ठ 177]

(आ) त्रण मूढ़ताओं से रहित सम्यग्दर्शन उन्नत तिलक से विराजमान है। *[श्रीधवला पुस्तक 1, पृष्ठ 6]*

(इ) त्रण मूढ़ताओं से रहित अमूढ़दृष्टि कहलाता है। **उसकी व्याख्या**— क्योंकि सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावमयता के कारण सभी भावों में मोह का अभाव होने से, अमूढ़दृष्टि है।

[श्रीसमयसार, गाथा 232 की टीका से]

(ई) अब, तीन प्रकार मूढ़ता है, वे सम्यक्त्व के घातक हैं याते तीन प्रकार की मूढ़ता का स्वरूप जानि सम्यग्दर्शन को शुद्ध करना योग्य है। *[श्री रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक 22 के ऊपर हैडिंग, पृष्ठ 22]*

प्रश्न– लोकमूढ़ता क्या है ?

उत्तर– जिन मूर्खनिनै तत्त्वनिज्ञा निश्चयरूप द्रव्य को देखा नहीं और ज्ञानरूप समुद्र नहीं देखा और समता नाम नदी नाहीं देखी, वह गंगादिक तीर्थाभासन में दौड़ता–फिरता है। अनेक प्रवृत्ति में दया, दान, पूजा आदि में धर्म होना, पवित्रता होना तथा कितने भेषधारी अनेक क्रिया–काण्ड, होम कराना आदि कर, कल्याण होता बतावें

है। कितने ही स्नानकर रसोई करने में, स्नानकरि जीमने में तथा आला वस्त्र पहरि जीमने में अपनी पवित्रता शुद्धता माने हैं, परमधर्म माने हैं सो समस्त मिथ्यात्व के उदय से लोकमूढ़ता है।

[श्री रत्नकरण्डश्रावकाचार, गाथा 23 टीका]

प्रश्न- देवमूढ़ता क्या है?

उत्तर- संसारी जीव इस लोक में राज्य-सम्पदा, स्त्री-पुरुष, आभरण, धन-ऐश्वर्य को वाञ्छासहित व्यन्तर-क्षेत्रपालादिक कू अपना सहाई माने हैं तथा सांसारिक सम्पदा के लिए सच्चे जिनेन्द्र की भक्ति से लौकिकपद की इच्छा करे हैं तथा पद्मावती देवी की पूजा करे हैं। ताते ऐसा निश्चय जानना कि जो अनेक देव-देवी को आराधै है, पूजैं हैं, सो देवमूढ़ता है।

(श्रीरत्नकरण्डश्रावकचार, गाथा 23 टीका)

प्रश्न- गुरुमूढ़ता क्या है?

उत्तर- जिनेन्द्र के श्रद्धान-ज्ञानकर रहित होय नाना प्रकार के खोटे भेष धारण करके, आपको ऊँचा मान, जगत के जीवों से अपनी पूजा-वन्दना चाहता है। आपको आचार्य, पूज्य, धर्मात्मा कहावता रागी-द्वेषी हुआ प्रवृते हैं। (शुभभावों से, निमित्तों में भला होता है, कर्म चक्कर कटाता है तथा शुभभाव करो और शुभभाव करते-करते धर्म हो जावेगा।) मुनि-साधु नाम धरा के मन्त्र, जप, होम, निंद्य आचरण करे हैं, वह पाखण्डी है; जो उन पाखण्डियों का वचन प्रमाण कर उनका सत्कार करे हैं, सो सब गुरुमूढ़ता है। इसलिए मिथ्यादिक मलता का नाश करनेवाला जो आपा-पर का भेद जाननेरूप विवेक है, उसका श्रद्धान-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमन करना चाहिए।

(श्री रत्नकरण्डश्रावकचार, गाथा 24 से)

कुगुरु सेवा, कुदेव सेवा तथा कुधर्म सेवा, यह तीन भी सम्यक्त्व के मूढ़ता नाम के दोष हैं। *(छहढाला, तीसरी ढाल)*

25

हेय-उपादेय-ज्ञेय

उपदेश में कोई उपादेय, कोई हेय तथा कोई ज्ञेय तत्वों का निरुपण किया जाता है; वहाँ उपादेय-हेय तत्वों की तो परीक्षा कर लेना क्योंकि इनमें अन्यथापना होने से अपना बुरा होता है। उपादेय को हेय मान ले तो बुरा होगा; हेय को उपादेय मान ले तो बुरा होगा।

[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 259]

हेय-उपादेय के विवेक का फल, सर्वज्ञ से स्वयं जाना हुआ होने से, सर्व प्रकार से अबाधित है। ऐसा शब्द, प्रमाण को प्राप्त कर क्रीड़ा करने पर, उसके संस्कार से विशिष्ट संवेदन शक्तिरूप सम्पदा (सम्यग्दर्शन) प्रगट होता है। *[श्रीप्रवचनसार, गाथा 86 की टीका से]*

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणति हुई, वही आत्मतत्त्व में एकाग्रता है। *[श्रीप्रवचनसार, गाथा 232 की टीका से]*

यह अमूर्तिक आत्मा, वह मैं हूँ और यह समान क्षेत्रावगाही शरीरादिक (द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म) वे पर हैं तथा यह उपयोग, वह मैं हूँ और यह उपयोगमिश्रित मोह-राग-द्वेषभाव, ये पर हैं - ऐसा स्व-पर का भेदविज्ञान होता है तथा आगम-उपदेशपूर्वक स्वानुभव होने से 'मैं ज्ञानस्वभावी एक परमात्मा हूँ' - ऐसा परमात्मा का ज्ञान होता है। *[श्रीप्रवचनसार, गाथा 233 के भावार्थ से]*

द्रव्यार्थिकनय तो एक सदा अनुत्पन्न और अविनष्ट स्वभाव है।

वह सदा काल स्थिति (कायम) स्वभाव रहता है – ऐसा ज्ञान हुए बिना, उस स्वभाव का अवलम्बन, जीव नहीं ले सकता; इसलिए हेय-उपादेय की विवेक दृष्टि होने पर उसका अवलम्बन लिया जा सकता है और पर्यायार्थिकनय का विषय बाह्य स्थितरूप है; इसलिए उसका अवलम्बन छोड़ता है। ●●

26

ज्ञान ही आत्मा

द्वादशाङ्ग का नाम आत्मा है, क्योंकि वह आत्मा का परिणाम है और परिणाम, परिणामी से भिन्न होता नहीं, क्योंकि मिट्टी द्रव्य से पृथग्भूत, घटादि पर्यायें पायी नहीं जाती।

शङ्का— द्रव्यश्रुत और भावश्रुत ये दोनों ही आगमसामान्य की अपेक्षा समान हैं; अतएव जिस प्रकार भावस्वरूप द्वादशाङ्गों को 'आत्मा' माना है; उसी प्रकार द्रव्यश्रुत को भी आत्मा मानने का प्रसङ्ग आयेगा?

समाधान— नहीं, क्योंकि वह द्रव्यश्रुत आत्मा का धर्म नहीं है, उसे जो आगम संज्ञा प्राप्त है, वह उपचार से प्राप्त है; वास्तव में वह आगम नहीं है। *[श्रीधवला पुस्तक 13, पृष्ठ 282-283]*

(अ:) श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा ही है। इसलिए ज्ञान की अनुभूति ही आत्मा की अनुभूति है। *[श्रीसमयसार, गाथा 15 की टीका, पृष्ठ 43]*

(क) प्रथम तो आत्मा का परिणाम वास्तव में स्वयं आत्मा ही है, क्योंकि परिणामी, परिणाम से अभिन्न है।

[श्रीप्रवचनसार, गाथा 122 की टीका से]

(ख) पौद्गलिक शब्दब्रह्म, उसकी ज्ञप्ति (शब्दब्रह्म को जानने वाली ज्ञानक्रिया), वह ज्ञान है। श्रुत (सूत्र) तो उसका (ज्ञान का) कारण होने से ज्ञान तरीके उपचार से कहा जाता है। जैसे अन्न को प्राण कहते हैं (वैसे, शब्दब्रह्म को ज्ञान कहा जाता है, वह है नहीं, निमित्तादि की अपेक्षा कथन है)। *[श्रीप्रवचनसार, गाथा 34 की टीका से]*

27

महिमावन्त सम्यक्त्व

तत्त्वार्थश्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन है। अथवा तत्त्वों में रुचि होना ही सम्यक्त्व है। अथवा प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य की अभिव्यक्ति ही जिसका लक्षण है, वही सम्यक्त्व है।

[श्रीधवला पुस्तक 7, पृष्ठ 7, श्रीधवला पुस्तक 10, पृष्ठ 115]

प्रशम= अनन्तानुबन्धी कषाय के अभावपूर्वक बाकी की कषायों का अंशरूप से मन्द होना। *[श्रीपञ्चाध्यायी, गाथा 428]*

संवेग= संसार से भय और धर्म तथा धर्म के कार्यों में परम उत्साह होना; साधर्मी और पञ्च परमेष्ठियों में प्रीति।

अनुकम्पा= प्राणीमात्र पर दयाभाव।

आस्तिक्य= पुण्य-पाप तथा परमात्मा का विश्वास।

सम्यक्त्व की उत्पत्ति ही मोक्ष का कारण है।

वह गुणश्रेणीरूप निर्जरा का कारण है, बन्ध के कारण का प्रतिपक्षी है। *[श्रीधवला पुस्तक 7, पृष्ठ 14]*

सम्यक्त्व का प्रतिपक्षी मिथ्यात्वभाव, अत्यन्त अप्रशस्त है, और उसके निमित्त से बँधनेवाला मिथ्यात्वकर्म अत्यन्त अप्रशस्त है।

चौथे गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक सर्व जीवों को सम्यक्त्व समान है। *[श्रीधवला पुस्तक 7, पृष्ठ 22-23, 107]*

सम्यग्दर्शन सब का समान है— चौथे से तेरहवें गुणस्थान तक के आस्रवसहित और चौदहवें गुणस्थानवर्ती आस्रवरहित -

ऐसे दोनों प्रकार के जीवों में (सम्यग्दर्शन सब को समान चौथे से चौदहवें तक सम्यग्दर्शन पाया जाता है, अर्थात् होता है।)

[श्रीधवला पुस्तक 7, पृष्ठ 23; श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 324]

सम्यग्दर्शन में जीव के गुणस्वरूप श्रद्धान की उत्पत्ति पायी जाती है, उससे आत्मस्वरूप की प्राप्ति होती है।

[श्रीधवला पुस्तक 5, पृष्ठ 208, 209 तथा 235]

क्षायिकसम्यग्दर्शन की अपेक्षा, क्षायोपशमिक, वेदक सम्यक्त्व की प्राप्ति सुलभ है। *[श्रीधवला पुस्तक 5, पृष्ठ 235]*

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमादि आदि को जीवत्व नहीं है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद आदि में मङ्गलपना सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें जीवत्व का अभाव है। मङ्गल तो जीव ही है और वह जीव, केवलज्ञानादिक अनन्त धर्मात्मक है। *[श्रीधवला पुस्तक 1, पृष्ठ 36]*

आस्रव-अशुचि, अपवित्र, जड़स्वभावी, दुःख का कारण, लाख के समान घातक, अनित्य, अध्रुव, अशरण, वर्तमान में दुःखरूप और आगामी दुःखस्वरूप है और भगवान आत्मा तो सदा ही अति निर्मल, चैतन्यस्वभावी, विज्ञानघनस्वभावी, निराकुलस्वभावी, नित्य, ध्रुव, शरण वर्तमान में सुखस्वरूप और आगामी में सुखस्वरूप है।

[श्रीसमयसार, गाथा 72, 74 की टीका से]

सम्यक्त्व प्राप्त करनेवालों ने सन्मार्ग ग्रहण किया है। देव तथा नारकी जीवों में चतुर्थ गुणस्थान ही होता है, ऊपर के गुणस्थान वहाँ नहीं हो सकते हैं। देव तथा नारकी, अज्ञानदशा में विभङ्ग ज्ञानी होते हैं और जब सम्यक्त्व प्रगट करते हैं, तब सन्मार्गी होते हैं।

[श्रीधवला पुस्तक 7, पृष्ठ 219]

सम्यक्त्व का फल, निश्चयचारित्र है और निश्चयचारित्र का फल, केवलज्ञान तथा सिद्धदशा है। जो जीव, चतुर्थ गुणस्थान प्राप्त

करता है, वह नियम से सिद्ध होगा ही। इससे वह भावि-नैगमनय से सिद्ध है।

अनादि होने से आस्रव नित्य नहीं हो जाता, क्योंकि कूटस्थ अनादि को छोड़कर, प्रवाह अनादि में नित्यत्व नहीं पाया जाता। यदि प्रवाहरूप से अनादि होय तो उसको (मिथ्यात्व) नित्यपना प्राप्त होता है। *[श्रीधवला पुस्तक 7, पृष्ठ 73]*

सम्यग्दृष्टि को आप्त, आगम तथा पदार्थों की श्रद्धा होती है; मिथ्यादृष्टि को उसकी श्रद्धा नहीं होती। भले दया धर्म को जाननेवाला (बातें करनेवाला) ज्ञानी कहलाता हो, उसका ज्ञान, श्रद्धा का कार्य करता नहीं; इसलिए मिथ्या है। *[श्रीधवला पुस्तक 5, पृष्ठ 224]*

चतुर्थ गुणस्थान प्राप्त करने से जीव को सम्यक्त्व प्राप्त होता है, वहाँ उस गुणस्थानी जीव को 41 प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता तथा और प्रकृतियों की स्थिति और अनुभाग अल्प बाँधता है, तो भी वह संसार-स्थिति का छेदक होता है; इसलिए मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा उसे अबन्धक कहने में आया है।
[श्रीसमयसार, पृष्ठ 133, 309, 307, 261], [श्रीगोमट्टसार कर्मकाण्ड, गाथा 94]

द्रव्यानुयोग तथा करणानुयोग का तीनों काल सुमेल होता है क्योंकि दोनों वीतरागी शास्त्र हैं, उनमें विरोध जरा भी नहीं। उनका समन्वय आगे इस प्रकार है—

सिद्धान्त में गुणस्थानों की परिपाटी में चारित्रमोह के उदय के निमित्त से सम्यग्दृष्टि के जो बन्ध होता है, वह भी निर्जरारूप ही समझना चाहिए क्योंकि सम्यग्दृष्टि के, जैसे पूर्व में मिथ्यात्व के समय से बँधा हुआ कर्म खिर जाता है, उसी प्रकार नवीन बँधा हुआ भी खिर जाता है। उसके उस कर्म के स्वामित्व का अभाव होने से, वह आगामी बन्धरूप नहीं, किन्तु निर्जरारूप ही है।

ज्ञानी, द्रव्यकर्म को पराया मानता है; इसलिए उसे उसके प्रति ममत्व नहीं होता; अत: उसके रहते हुए भी, वह निर्जरित हुए के समान ही है – ऐसा मानता है।

[श्रीसमयसार, गाथा 236 का भावार्थ, पृष्ठ 355]

सम्यग्दृष्टि को कर्म का उदय वर्तता होने पर भी, सम्यग्दृष्टि को पुन: कर्म का बन्ध किञ्चितमात्र भी नहीं होता, परन्तु जो कर्म पहिले बँधा था, उसके उदय को भोगने पर उसको नियम से उस कर्म की निर्जरा ही होती है। *[श्रीसमयसार, कलश 161, पृष्ठ 346]*

धवला में भी इस कथन से कोई विरोध नहीं आता। धवला में लिखा है—जीव के रागादि परिणामों के निमित्त से पुद्‌गल, कर्मरूप परिणमाता है परन्तु ज्ञान परिणत है, उसको जो अल्प स्थिति तथा अनुभागवाली कितनी कर्म प्रकृतियाँ बँधने पर भी, उसका स्वामी न होने से, वह कर्म को प्राप्त नहीं होता। *[श्रीधवला पुस्तक 6, पृष्ठ 12]*

सर्व सम्यग्दृष्टियों को चौथे गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक स्वभावभूत अवस्था प्राप्त होती हैं। *[श्रीधवला पुस्तक 1, पृष्ठ 396]*

चौदहवें गुणस्थान में निश्चयसम्यग्दर्शन ही होता है। चौथे गुणस्थान से स्वभावरूप अवस्था शुरु होती है; इसलिए सर्वत्र श्रद्धागुण की स्वभावरूप अवस्था शुद्ध सम्यग्दर्शन है।

[श्रीधवला पुस्तक 1, पृष्ठ 396, 397]

मेरुसमान निष्कम्प, आठ मलरहित, तीन मूढ़ताओं से रहित और अनुपम सम्यग्दर्शन, परमागम के अभ्यास से होता है।

[श्रीधवला पुस्तक 1, पृष्ठ 59]

सम्यग्दर्शन, रत्नगिरि का शिखर है। *[श्रीधवला पुस्तक 1, पृष्ठ 166]*

जो पुरुष, सम्यग्दर्शन से शुद्ध है, वही शुद्ध है। जिसका दर्शन, शुद्ध होता है, वही निर्वाण को प्राप्त करता है; दूसरा नहीं। निर्वाण

प्राप्ति में वह (सम्यग्दर्शन) प्रधान है। *[श्रीमोक्षपाहुड़, गाथा 39]*

यह श्रेष्ठतर सम्यग्दर्शन ही जन्म-जन्म का नाश करनेवाला है। उसकी जो श्रद्धा करता है, वह सम्यक्त्वी है। वह सम्यक्त्व मुनियों, श्रावकों तथा चतुर्गति के भव्य संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों को ही होता है।

[श्रीमोक्षपाहुड़, गाथा 40 महावीरजी से प्रकाशित हुआ श्री अष्टपाहुड़, पृष्ठ 8]

जैसे तारों के समूह में चन्द्रमा अधिक है; पशुओं के समूह में सिंह अधिक है; उसी प्रकार मुनि और श्रावक दोनों प्रकार के धर्म में सम्यक्त्व, वह अधिक है।

[श्रीभावपाहुड़, गाथा 144 जयचन्द वचनिका, पृष्ठ 268]

प्रश्न- श्रावक को क्या करना?

उत्तर- प्रथम, श्रावक को सुनिर्मल मेरुवत् निष्कम्प अचल तथा चलमलिन अगाढ़ दोषरहित अत्यन्त निश्चल सम्यग्दर्शन को ग्रहण करके, उसके ध्यान में देह-क्षय के लिए ध्यावना।

[श्रीमोक्षपाहुड़, गाथा 86]

सम्यक्त्व अमूल्य माणिक्य समान है। जो जीव निरन्तर सम्यक्त्व का ध्यान करते हैं, चिन्तवन करते हैं, बारम्बार भावना करते हैं, वह निकट भव्यजीव सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं और सम्यक्त्वरूप परिणमित जीव, दु:खदायी आठ कर्मों को क्षय करते हैं। कर्म के क्षय का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन से ही होता है; अत: पूर्ण प्रयत्न से सर्व प्रथम उसको ही प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

[श्रीमोक्षपाहुड़, गाथा 87 संस्कृत टीका हिन्दी महावीरजी से प्रकाशित श्री अष्टपाहुड़, पृष्ठ 575]

बारम्बार सम्यग्दर्शन के माहात्म्य का वर्णन करते हुए आचार्य महाराज कहते हैं कि 'अधिक कहने का क्या प्रयोजन? अतीत काल में जितने भरत, सगर, राग, पाण्डव आदि श्रेष्ठ भव्य जीवों ने

मोक्ष प्राप्त किया, तथा भविष्य काल में मोक्ष प्राप्त करेंगे और वर्तमान में करते हैं, वह सम्यग्दर्शन का माहात्म्य है।'

[श्रीमोक्षपाहुड़, गाथा 88 श्रीअष्टपाहुड़ महावीरजी प्रकाशन]

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप, यह चारों आत्मा में स्थित हैं; इसलिए आत्मा ही मेरे शरण है।

[श्रीमोक्षपाहुड़, गाथा 104 श्रीअष्टपाहुड़ महावीरजी प्रकाशन]

आत्मा ही आत्मा की श्रद्धा करता है; आत्मा ही आत्मा का ज्ञान करता है; आत्मा ही आत्मा के साथ तत्मयपने का भाव करता है; आत्मा ही आत्मा में तपता है; आत्मा ही आत्मा में केवलज्ञानरूप ऐश्वर्य को प्राप्त करता है, इसी प्रकार चार प्रकार से आत्मा ही आत्मा की आराधना करता है; इसलिए आत्मा ही मेरे शरण है।

[श्रीमोक्षपाहुड़, गाथा 87 संस्कृत टीका हिन्दी महावीरजी से प्रकाशित]

आत्मा ही मेरा शरण है - ऐसा निर्णय करनेवाला जीव, सदा काल भूतार्थ का आश्रय करता है और उसके आश्रय से ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। 'भूतार्थ आश्रित आत्मा, सदृष्टि निश्चय होय है।'

[श्रीसमयसार, गाथा 11]

●●

28

शुद्ध का अर्थ क्या ?

नहिं अप्रमत्त, प्रमत्त नहिं जो एक ज्ञायकभाव है।
इस रीति शुद्ध कहाय अरु, जो ज्ञात वो तो वो हि है ॥6 ॥

अर्थात्, जो ज्ञायकभाव है, वह अप्रमत्त भी नहीं और प्रमत्त भी नहीं है; इस प्रकार इसे शुद्ध कहते हैं और जो ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ, वह तो वही है; अन्य कोई नहीं। ज्ञायकभाव अप्रमत्त भी नहीं, और प्रमत्त भी नहीं, वह तो समस्त अन्य द्रव्यों के भावों से भिन्नरूप से उपासित होता हुआ शुद्ध कहलाता है। *[श्रीसमयसार, गाथा 6 एवं टीका]*

एक तो द्रव्य अपेक्षा शुद्धपना है, एक पर्याय अपेक्षा शुद्धपना है। वहाँ द्रव्य अपेक्षा तो परद्रव्य से भिन्नपना और अपने गुणों से अभिन्नपना, उसका नाम शुद्धपना है और पर्याय-अपेक्षा औपाधिकभावों का अभाव होना, शुद्धपना है।

[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 199]

आत्मा ही शरण होने से आत्माश्रित, निश्चयनय है; पराश्रित, व्यवहारनय है – ऐसा कहकर पराश्रितभाव छुड़ाया है और आत्माश्रित को ग्रहण कराया है। जीव को अनादि से, जो पराश्रय से मेरा भला होगा – ऐसी खोटी मान्यता को छुड़ाकर, ध्रुव-ज्ञायक त्रिकालीस्वभाव का आश्रय कराया है। अबन्धभाव, आत्माश्रित है और बन्धभाव, पराश्रित है – ऐसा बताया है। *[श्रीसमयसार, गाथा 272 संस्कृत टीका से]*

आत्मा ही एकमात्र शरण होने से वह ही दर्शन-ज्ञान-चारित्र

आदि है, अर्थात् उसके आश्रय से ही अबन्धदशा प्रगट होती है और पराश्रय से बन्ध होता है। *[श्रीसमयसार, गाथा 276-277 की टीका से]*

शुद्ध आत्मा ही दर्शन है, क्योंकि वह (आत्मा) दर्शन का आश्रय है - ऐसा जो श्रीसमयसार, गाथा 276-277 में कहा है। उसी प्रकार जो सिद्धान्त श्रीसमयसार की 11वीं गाथा में कहा है, वह ही बन्ध अधिकार में लगाना चाहिए।

शुद्ध आत्मा ही दर्शन (सम्यक्त्व) का आश्रय है, क्योंकि जीवादि नव पदार्थों के सद्भाव में या असद्भाव में उसके (शुद्ध आत्मा के) सद्भाव से ही सम्यग्दर्शन का सद्भाव है; अबन्ध आत्मा के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन है। *[श्रीसमयसार, गाथा 276-277 की टीका से]*

यहाँ पर बतलाया है कि चौथे गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक जीवों को सम्यग्दर्शन स्वभावरूप अवस्था है, उसी से आत्मा का ज्ञायकस्वभावपना प्रकट होता है।

ज्ञान, वह अभेदनय से आत्मा ही होने से उपादेय है; अन्य सब हेय है। इस प्रकार वीतरागी शास्त्रों में, चाहे वह करणानुयोग हो या द्रव्यानुयोग हो, कोई भी हो, किसी में विरोध नहीं है।

'कदो दंसण मोहोदये सति जीव गुणीभूत सदहणस्स उधत्तिएउवलयं'। **अर्थ**— क्योंकि दर्शनमोहनीय होने पर (सम्यक् प्रकृति का उदय होने पर भी) जीव को गुणीभूत श्रद्धा की उत्पत्ति की प्राप्ति होती है। (यहाँ पर श्रद्धा से जीव को गुणीभूत कहा— इसलिए सिद्ध हुआ कि जीव को त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से इस गुणीभूत की श्रद्धा उत्पन्न होती है; पराश्रय से कभी नहीं।

चौथे गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक सम्यक्त्व का एकत्व है। इस सम्बन्ध में कहा है कि दर्शनमोहनीय के उपशम से उपशमसम्यक्त्व होता है, क्षय से क्षायिक होता है और क्षयोपशम से

क्षायोपशमिक (वेदक) सम्यक्त्व होता है। इन तीनों का एकत्व ही, उसका नाम सम्यग्दृष्टि है, क्योंकि यह तीनों भाव सम्यग्दृष्टियों के ही होते हैं। *[श्रीधवला पुस्तक 7, पृष्ठ 107]*

क्षायिकसम्यक्त्व की अपेक्षा क्षयोपशमसम्यक्त्व की प्राप्ति सुलभ है। *[श्रीधवला पुस्तक 5, पृष्ठ 264]*

इस पञ्चम काल में भरतक्षेत्र में जन्मा हुआ जीव, क्षायिकसम्यक्त्व प्रगट करे, ऐसी योग्यता किसी जीव को नहीं - ऐसा त्रिकाल सर्वज्ञदेव के ज्ञान में आया है। अहो! सर्वज्ञ का अद्भुत सर्वज्ञपना।

ज्ञान, जीव को सारभूत है और ज्ञान की अपेक्षा सम्यक्त्व सारभूत है, क्योंकि सम्यक्त्व से ही चारित्र होता है और चारित्र से ही निर्वाण की प्राप्ति होती है।

[श्रीदर्शनपाहुड़, गाथा 15], [श्रीधवला पुस्तक 1, पृष्ठ 177]

सम्यक्त्व से ज्ञान होता है और ज्ञान से समस्त पदार्थों की उपलब्धि होती है और वह जीव अपने कल्याण का और अकल्याण का विशेष अन्तर भेद जानता है। *[श्रीदर्शनपाहुड़, गाथा 15]*

तीन काल और तीन लोक में सम्यग्दर्शन के समान कोई हितकारी नहीं और मिथ्यात्व के समान कोई अहितकारी नहीं।

[श्रीरत्नकरणश्रावकाचार, गाथा 34]

जिस पुरुष को सम्यक्त्वरूप जल का प्रवाह निरन्तर प्रवर्तता है, उसे कर्मबन्ध नहीं होता, उसको कर्मरज का आवरण लगता नहीं और पूर्व बँधा हुआ कर्म, नाश को प्राप्त होता है। *[श्रीदर्शनपाहुड़, सूत्र 7]*

दर्शनरत्न जो परिणति सम्यग्दर्शन को धारण करता है, वह रत्नत्रय में सार उत्तम गुण को धारण करता है, वह मोक्ष का प्रथम सोपान है। *[श्रीदर्शनपाहुड़, सूत्र 21]*

जीव, विशुद्ध सम्यग्दर्शन से कल्याण की परम्परा को प्राप्त होता है। *[श्रीदर्शनपाहुड़, सूत्र 31]*

हेय-उपादेय, सम्यग्दृष्टि ही जानता है। जिन-प्रणीत जीव -अजीव आदि की बहुविधि अर्थ है। उसमें जो हेय-उपादेय को जानता है, वह ही सम्यग्दृष्टि है। *[श्रीसूत्रपाहुड़, गाथा 5]*

केवली-सिद्ध भगवान, रागादिरूप नहीं परिणमते; संसार अवस्था की इच्छा नहीं करते, यह श्रद्धान का बल जानना।

[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 324]

सम्यक्त्वगुण, तिर्यञ्च आदिक और केवली - सिद्ध भगवान को सम्यक्त्वगुण समान ही कहा है। *[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 324]*

सम्यग्दर्शन रत्न अर्घ है - जिस जीव को विशुद्ध सम्यग्दर्शन है, वह परम्परा कल्याण को प्राप्त करता है, वह सम्यग्दर्शनरत्न लोक में सुर-असुर द्वारा पूज्य है। *[श्रीदर्शनपाहुड़ तथा श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार]*

देव और दानवों से युक्त इस संसार में सम्यग्दर्शन सर्व द्वारा पूजने में आता है। इस रत्न का मूल्य कोई भी करने को समर्थ नहीं।

[श्रीअष्टपाहुड़ महावीरजी से प्रकाशित, पृष्ठ 44]

सम्यग्दृष्टि कैसा जानता है कि—

कहै विचच्छन पुरुष सदा मैं एक हौं।
अपने रस सौं भर्‌यौ आपनी टेक हौं॥
मोह कर्म मम नाहिं नाहिं भ्रम कूप है।
शुद्ध चेतना सिन्धु हमारौ रूप है॥33॥

अर्थात्, ज्ञानी पुरुष ऐसा विचार करता है कि मैं सदैव अकेला हूँ, अपने ज्ञान-दर्शन रस से भरपूर अपने ही आश्रय से हूँ। भ्रमजाल का कूप, मोहकर्म मेरा स्वरूप नहीं है, नहीं है; मेरा स्वरूप तो शुद्ध चैतन्य सिन्धु है॥33॥ *[श्रीसमयसारनाटक जीव द्वार]*

29

साधकदशा : ज्ञानधारा-कर्मधारा

सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा है। वह परमात्मा नहीं और बहिरात्मा भी नहीं। परमात्मा और बहिरात्मा को व्यवहार नहीं होता है, क्योंकि वीतराग परमात्मा को राग भी नहीं और कुछ बाधकपना भी नहीं है।

जिसको अंशरूप से शुद्धि प्रगट हुई है, उसे भूमिकानुसार बाधकपना होता है। यहाँ उस बाधकपने को व्यवहार कहा है और जो शुद्धि प्रगटी है, उसे निश्चय कहा है क्योंकि सम्यग्दर्शन होने पर चारित्रगुण की पर्याय में दो अंश हो जाते हैं। वहाँ जितनी शुद्धि होती है, वह मोक्षमार्ग है और जो अशुद्धि है, वह बन्धमार्ग है।

मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा को सम्पूर्ण बाधकपना है; इसलिए मिथ्यादृष्टि को व्यवहारपना होता ही नहीं, क्योंकि निश्चय हो तो व्यवहारपना नाम पावे।

साधक अन्तरात्मा को एक साथ साधक-बाधक कहा है, क्योंकि उसको ज्ञानधारा और कर्मधारा एक साथ होती हैं।

चौथे गुणस्थान में प्रथम निर्विकल्पता आती है, तब निश्चय-सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। सविकल्पदशा आने पर, निश्चयसम्यग्दर्शन के साथ स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट होते हुए, चारित्रमोह के उदय की कमजोरी के कारण सच्चेदेव, गुरु, शास्त्र, सम्बन्धी ही विकल्प होता है; कुदेव, कुगुरु आदि का नहीं; इसलिए सम्यग्दृष्टि के देव-गुरु

-शास्त्र के शुभोपयोग को व्यवहारसम्यग्दर्शन कहा है, क्योंकि व्यवहार -सम्यग्दर्शनरूप राग, क्रम-क्रम से निर्जरा को प्राप्त होता जाता है।

पाँचवाँ गुणस्थान भी निर्विकल्पदशा में प्राप्त होता है। सविकल्पदशा आने पर दो चौकड़ी कषाय के अभावरूप शुद्धि तो निरन्तर वर्तती है, उसके साथ बारह अणुव्रतादि का विकल्प होता है; अन्य प्रकार का नहीं; इसलिए देशचारित्र श्रावक के बारह अणुव्रतादि को व्यवहारश्रावकपना कहा है, क्योंकि अणुव्रतादि का राग क्रम -क्रम से निर्जरा को प्राप्त होता जाता है।

पाँचवें गुणस्थान से प्रथम सातवें गुणस्थान में आता है, तब तो निर्विकल्पता होती है। छठवें गुणस्थान में सविकल्पदशा होती है, वहाँ पर भावलिङ्गी मुनि को तीन चौकड़ी कषाय के अभावरूप शुद्धि तो निरन्तर वर्तती है और उसके साथ संज्वलन क्रोधादि का तीव्र उदय होने से, अर्थात् अपनी कमजोरी से अट्ठाईस मूलगुण सम्बन्धी ही विकल्प आता है; अन्य नहीं; इसलिए भावलिङ्गी मुनि के अट्ठाईस मूलगुण आदि के विकल्प को व्यवहारमुनिपना कहा है क्योंकि व्यवहार मुनिपने का राग क्रम-क्रम से निर्जरा को प्राप्त हो जाता है। सातवें गुणस्थान से इस प्रकार का राग होता ही नहीं है, अबुद्धिपूर्वक राग की बात यहाँ गौण है।

मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा को निश्चयसम्यग्दर्शन; सच्चा श्रावकपना, सच्चा मुनिपना होता ही नहीं; इसलिए उसको व्यवहारसम्यग्दर्शन, व्यवहारश्रावक, व्यवहारमुनिपना भी नहीं होता है क्योंकि निश्चय के बिना व्यवहार कैसा? अर्थात्, निश्चय के बिना व्यवहार होता ही नहीं है।

भूमिकानुसार साथ-साथ रहनेवाले निश्चय-व्यवहार सम्यग्दर्शन की व्याख्या—

जीवादीनां श्रद्धानं सम्यक्त्वं जिनवरैः प्रज्ञप्तम्।
व्यवहारात्-निश्चयतः, आत्मैव भवति सम्यक्त्वम्॥20॥

अर्थात्, जीव आदि कहे हुए जो पदार्थ, उनकी श्रद्धा, वह व्यवहारसम्यक्त्व, जिनवर ने कहा है। निश्चय से अपना आत्मा, वह ही सम्यक्त्व है। *निश्चयसम्यक्त्व का विषय निज आत्मा है और व्यवहारसम्यक्त्व का विषय निज आत्मा नहीं, परन्तु उनसे जुदा विषय, अर्थात् जीवादि नव पदार्थ हैं। [श्रीदर्शनपाहुड़, श्लोक 20]*

स्वाश्रितो निश्चय-पराश्रितो व्यवहार। *[श्रीसमयसार, गाथा 272]*

आत्मा के श्रद्धागुण में सम्यक्त्व प्राप्ति के साथ एक चौकड़ी कषाय के अभावरूप शुद्धि, निश्चयसम्यग्दर्शन; भूमिकानुसार देव, गुरु, शास्त्र का राग, व्यवहारसम्यग्दर्शन है।

दो चौकड़ी कषाय के अभावरूप शुद्धि, निश्चयश्रावकपना है और बारह अणुव्रतादि का विकल्प, व्यवहारश्रावकपना है।

तीन चौकड़ी कषाय के अभावरूप शुद्धि, निश्चयमुनिपना है और अट्ठाईस मूलगुण का विकल्प, व्यवहारमुनिपना है।

प्रश्न - व्यवहार कब कहा जावेगा?

उत्तर - व्यवहार, निश्चय को बताये तो व्यवहार है। जैसे— सोने में जो खोट है, वह यह बताता है - मैं सोना नहीं हूँ; उसी प्रकार भूमिकानुसार जो राग है, उस पर व्यवहार का आरोप आता है, वह निश्चय को बतलानेमात्र है, तब व्यवहार है।

ज्ञानी को व्यवहारसम्यग्दर्शन में विपरीत अभिनिवेश होता नहीं, क्योंकि चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन होने पर विपरीत अभिनिवेश का अभाव ही होता है।

जीवादि नव पदार्थों का विपरीत अभिनिवेशरहित श्रद्धान करना,

वह सम्यग्दर्शन है। उन पदार्थों में भूतार्थ द्वारा अभिगत पदार्थों में शुद्धात्मा का भिन्नरूप से सम्यक् अवलोकन करना, सम्यग्दर्शन है।

[श्रीसमयसार जयसेनाचार्य, गाथा 155]

निज तत्त्व में जिसका मार्ग विशेषरूप से हुआ है – ऐसे जीवों को व्यवहारसम्यग्दर्शन होता है।

'कालसहित पञ्चास्तिकाय के भेदरूप नव पदार्थ, वे वास्तव में 'भाव' हैं। उन 'भावों का' मिथ्यादर्शन के उदय से प्राप्त होनेवाला जो अश्रद्धान, उसके अभावस्वभाववाला जो भावान्तर (नव पदार्थों के श्रद्धानरूप भाव) श्रद्धान, वह सम्यग्दर्शन है।'

[श्रीपञ्चास्तिकाय गाथा, 107 की टीका से]

यह छठवें गुणस्थानधारी तीन चौकड़ी कषाय के अभावरूप परिणमे हुए भावलिङ्गी मुनि के व्यवहारसम्यग्दर्शन की व्याख्या है। यह चौथे, पाँचवें गुणस्थानधारी जीवों को भी निश्चयसम्यग्दर्शन के साथ रहा हुआ व्यवहारसम्यग्दर्शन इसी प्रकार लागू पड़ता है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, सो मोक्षमार्ग है – ऐसा निश्चय कहा तथा वहाँ छह द्रव्यरूप और नव पदार्थरूप जिनके भेद हैं – ऐसे धर्मादि के तत्त्वार्थश्रद्धानरूपभाव जिसका स्वभाव है – ऐसा 'श्रद्धान' नाम का भावविशेष, सो सम्यक्त्व है।

[श्रीपञ्चास्तिकाय, गाथा 160 की टीका से]

ऊपर गाथा 160 की टीका में छठवें गुणस्थानवर्ती को मिथ्यात्व तथा तीन चौकड़ी कषाय के अभावरूप परिणत भावलिङ्गी मुनि की शुद्धि के साथ वर्तता हुआ व्यवहारसम्यक्त्व का वर्णन किया है।

पञ्चम गुणस्थानवर्ती गृहस्थ को भी व्यवहारमोक्षमार्ग कहा है, वहाँ व्यवहारमोक्षमार्ग के स्वरूप का निम्न प्रकार वर्णन किया है—

'वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत जीवादि पदार्थों सम्बन्धी सम्यक्श्रद्धान

तथा ज्ञान, गृहस्थों और तपोधन को समान होता है। चारित्र तपोधनों को आचारादि चरणग्रन्थों में विहित किये हुए मार्ग अनुसार प्रमत्त, अप्रमत्त गुणस्थानयोग्य पञ्च-महाव्रत, पञ्च-समिति, त्रिगुप्ति आदिरूप होता है और गृहस्थों को उपासकाध्ययन ग्रन्थ में विहित किये हुए मार्ग अनुसार पञ्चम गुणस्थानयोग्य दान-शील-पूजा आदिरूप होता है; इस प्रकार व्यवहारमोक्षमार्ग का लक्षण है।

[श्रीपञ्चास्तिकाय, गाथा 160 जयसेनाचार्य कृत]

यहाँ श्रावक और मुनि को निश्चय-व्यवहारमोक्षमार्ग साथ-साथ होता है - ऐसा बताया है।

वीतराग-सर्वज्ञ प्रणीत जीवादि पदार्थों का सम्यक्श्रद्धान, सम्यग्दर्शन है। यह व्यवहार की व्याख्या जयसेनाचार्यजी ने की है। साथ-साथ व्यवहारज्ञान और व्यवहारचारित्र भी लिखा है।

'विपरीत अभिनिवेशरहित श्रद्धान ही सम्यक्त्व है।'

[श्रीनियमसार, गाथा 51]

श्रीप्रवचनसार, गाथा 157 में क्षायोपशमिकसम्यक्त्व और क्षायोपशमिकचारित्र, पाँचवें-छठवें गुणस्थान में शुद्धरूप है, उसके साथ उसके उसी समय वर्तती व्यवहारश्रद्धा / शुभोपयोग साथ रहता है।

'विशिष्ट (खास प्रकार की) क्षयोपशमदशा में रहा हुआ दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप पुद्गलों के अनुसार परिणति में लगा हुआ होने के कारण, शुभ उपराग ग्रहण करने से जो उपयोग परम भट्टारक महादेवाधिदेव परमेश्वर ऐसे अरहन्त और सिद्ध की और साधु की श्रद्धा करने में तथा समस्त जीव समूह की अनुकम्पा का होना, वह शुभोपयोग है' (यहाँ पर देव-गुरु की श्रद्धा, व्यवहार-

सम्यक्त्व है और इसे शुभोपयोग कहा है क्योंकि वह चारित्रमोहनीय के उदय के साथ जुड़ा हुआ है। जो दर्शनमोह के क्षयोपशम के अनुसार परिणति है, वह निश्चयसम्यक्त्व है और चारित्रमोहनीय क्षयोपशम के अनुसार जो परिणति है, वह निश्चयचारित्र है।)

[श्रीप्रवचनसार, गाथा 150 की टीका]

जो सम्यक्त्व कहा है, वह चौथे गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक का वर्णन होने से निश्चयसम्यग्दर्शन है क्योंकि निश्चयसम्यक्त्व के साथ रहनेवाला व्यवहारसम्यक्त्व, सातवें गुणस्थान से आगे नहीं होता है।

यहाँ पर निश्चयसम्यक्त्व को परमार्थ, भूतार्थ, शुद्ध, निर्मल, पवित्र, आभ्यन्तर, अनुपचार, सत्यार्थ सम्यग्दर्शन कहा है और व्यवहार सम्यक्त्व को अपरमार्थ, अभूतार्थ, अशुद्ध, अपवित्र, अनिर्मल, बाह्य, उपचार, असत्यार्थ सम्यक्त्व कहा है।

निश्चयसम्यग्दर्शन का आश्रय, शुद्ध आत्मा है और व्यवहार-सम्यक्त्व का आश्रय, जीवादि नव पदार्थ हैं।

[श्रीसमयसार, गाथा 276-277]

व्यवहारसम्यग्दर्शन, पराश्रित होने से जिनवरों ने उसे हेय, त्याज्य, बन्ध का कारण कहा है, क्योंकि वह दूसरे के आश्रय से होता है। ज्ञानियों को अस्थिरता सम्बन्धी विकल्प छोड़ने का पुरुषार्थ वर्तता है।

प्रश्न - चौथे-पाँचवें गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि को किसी-किसी समय अशुभभाव व्यक्तरूप होता है और शुभभाव भी सदा एक प्रकार का नहीं होता, तो उस काल सम्यग्दृष्टि के व्यवहारसम्यक्त्व का क्या हुआ ?

उत्तर - उस समय वह व्यक्तरूप न होकर, शक्तिरूप होता है और जब होता है, तब व्यक्तरूप होता है।

(शक्ति-व्यक्ति का स्वरूप, श्रीपञ्चास्तिकाय, गाथा 49 में ज्ञान, पर्याय के सम्बन्ध में दिया है और इष्टोपदेश में राग-द्वेष की शक्ति, व्यक्ति के विषय में लिखा है।)

प्रश्न - सातवें गुणस्थान से लेकर बाद के गुणस्थानों में व्यवहारसम्यक्त्व क्यों नहीं होता?

उत्तर - व्यवहारसम्यक्त्व, शुभराग है, अशुद्धता है। सातवें गुणस्थान से आगे के गुणस्थानों में निर्विकल्पता ही रहती है। अबुद्धिपूर्वक राग, दसवें गुणस्थान तक रहता है; इसलिए सातवें गुणस्थान से आगे-आगे के गुणस्थानों में चारित्रगुण की पर्याय में शुद्धता बढ़ती जाती है, अशुद्धता का अभाव होता जाता है; इसलिए सातवें से लेकर आगे के गुणस्थानों में व्यवहारसम्यक्त्व नहीं है। निश्चयसम्यक्त्व, चौथे से सिद्धदशा तक एक समान निरन्तर रहता है।

●●

(30)

बहिरात्मा-अन्तरात्मा

त्रिकाली ज्ञायक परमपारिणामिक जीवतत्त्व को आत्मा कहते हैं, उसमें पर्याय की अपेक्षा बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा का भेद है। इन तीन अवस्थाओं से रहित द्रव्य रहता है। इस प्रकार द्रव्य और पर्यायरूप जीव पदार्थ को जानना चाहिए।

प्रश्न - मोक्ष का कारण क्या है ?

उत्तर - मिथ्यात्व मोह-राग-द्वेषरूप बहिरात्म अवस्था है। वह तो अशुद्ध हैं, दुःखरूप है; वह तो मोक्ष का कारण नहीं है।

मोक्ष अवस्था तो फलस्वरूप है; इसलिए यह भी मोक्ष का कारण नहीं है।

बहिरात्मा-अवस्था तथा मोक्ष अवस्था (परमात्मा) से भिन्न, जो अन्तरात्मा-अवस्था है, वह मिथ्यात्व, राग-द्वेष-मोहरहित होने के कारण, शुद्ध है, वह अन्तरात्म-अवस्था / संवर-निर्जरा अवस्था, मोक्ष का कारण है।

चौथे गुणस्थान से जितनी शुद्धि है, वह मोक्ष का कारण है; जो अशुद्धि है, वह बन्ध का कारण है; मोक्ष का कारण नहीं है।

जो शुद्धि अंश है, वह मोक्षमार्ग का कारण है और अशुद्धि अंश है, बन्धरूप है, हेय / त्याज्य है।

[श्रीपुरुषार्थसिद्धियुपाय, गाथा 212-213-214]

प्रश्न - अन्तरात्म-अवस्था में ध्यान करने योग्य कौन है ?

उत्तर - त्रिकाली परमपारिणामिक ज्ञायक स्वयं जीव ही (द्रव्य ही) ध्यान करने योग्य है। अपना त्रिकाली परमात्मद्रव्य, इस अन्तरात्म -अवस्था से कथंचित् भिन्न है।

[श्रीप्रवचनसार, जयसेनाचार्य, गाथा 238 की टीका से]

अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों प्रकार के परिग्रह से रहित, उत्कृष्ट शुद्धोपयोगी मुनि (बारहवें गुणस्थानवर्ती) उत्तम अन्तरात्मा है। अविरत-सम्यग्दृष्टि (चौथे गुणस्थानवर्ती) जघन्य अन्तरात्मा है। उक्त दोनों की मध्य दशावर्ती श्रावक और मुनिराज (पाँचवें से ग्यारहवें गुणस्थान तक) सभी मध्य अन्तरात्मा है।

[श्रीनियमसार, गाथा टीका 149]

तात्पर्य यह है कि चौथे-पाँचवें-छठवें गुणस्थानों में निश्चय -सम्यग्दर्शनसहित व्यवहारसम्यक्त्व होता है। इन गुणस्थानों में जो शुद्धि है, वह संवर-निर्जरारूप है और मोक्ष का कारण है और जो भूमिकानुसार राग है, वह अल्प स्थिति-अनुभागरूप घातिकर्मबन्ध का निमित्तकारण है, परन्तु अनन्त संसार का निमित्तकारण नहीं है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना, जुदा नवतत्त्वों को जानना मिथ्यादृष्टिपना है। श्रीसमयसार, कलश 6 में नव पदार्थों का श्रद्धना, मिथ्यात्व कहा है।

वस्तु तो द्रव्य है और द्रव्य का निजभाव द्रव्य के साथ ही रहता है तथा निमित्त-नैमित्तिकभाव का अभाव ही होता है; इसलिए शुद्धनय से जीव को जानने से ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है। जब तक भिन्न-भिन्न नव पदार्थों को जाने और शुद्धनय से आत्मा को न जाने, तब तक पर्यायबुद्धि है, अर्थात् मिथ्यादृष्टि है।

[श्रीसमयसार, गाथा 13 के भावार्थ, पृष्ठ 33]

इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बिना, व्यवहारसम्यग्दर्शन लागू नहीं पड़ता है।

मिथ्यादृष्टि जीव के देव-गुरु-धर्मादिक का श्रद्धान आभासमात्र होता है और इसके श्रद्धान में विपरीताभिनिवेश का अभाव नहीं होता; इसलिए यहाँ निश्चयसम्यक्त्व तो है नहीं और व्यवहारसम्यक्त्व भी आभासमात्र है क्योंकि इसके देव, गुरु, धर्मादिक का श्रद्धान है, सो विपरीताभिनिवेश के अभाव को साक्षात् कारण (निमित्त) नहीं हुआ। कारण हुए बिना उपचार सम्भव नहीं; इसलिए साक्षात् कारण की अपेक्षा व्यवहारसम्यक्त्व भी इसके सम्भव नहीं है।

[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 333]

विपरीताभिनिवेशरहित श्रद्धानरूप आत्मा का परिणाम, वह तो निश्चयसम्यक्त्व है क्योंकि यह सत्यार्थ सम्यक्त्व का स्वरूप है। सत्यार्थ ही का नाम निश्चय है तथा विपरीताभिनिवेशरहित श्रद्धान को कारणभूत (निमित्तभूत) श्रद्धान, सो व्यवहारसम्यक्त्व है क्योंकि कारण में (निमित्त में) कार्य का उपचार किया है; सो उपचार ही का नाम व्यवहार है। सम्यग्दृष्टि जीव के देव, गुरु धर्मादिक का सच्चा श्रद्धान है, उसी निमित्त से इसके श्रद्धान में विपरीताभिनिवेश का अभाव है। यहाँ विपरीताभिनिवेशरहित श्रद्धान, निश्चयसम्यक्त्व है और देव-गुरु, धर्मादिक का श्रद्धान, सो व्यवहारसम्यक्त्व है। इस प्रकार साधक को एक ही काल में दोनों सम्यक्त्व पाये जाते हैं।

[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 333]

जिसे स्व-पर का श्रद्धान नहीं है और जिनमत में कहे जो देव-गुरु-धर्म, उन्हीं को मानता है व सप्त तत्त्वों को मानता है; अन्य मत में कहे देवादि को नहीं मानता है, तो इस प्रकार केवल व्यवहार-सम्यक्त्व से सम्यक्त्वी नाम नहीं पाता। (गृहीतमिथ्यात्व का अभाव होने की अपेक्षा से व्यवहारसम्यक्त्व कहा है।)

[रहस्यपूर्ण चिट्ठी, पृष्ठ 2]

....परन्तु व्यवहार तो उपचार का नाम है, सो उपचार भी तो तब बनता है, जब सत्यभूत निश्चयरत्नत्रयादि के कारणादि हो।

[श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 257]

वास्तव में सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना जितना ज्ञान है, वह मिथ्याज्ञान है; जितना चारित्र है, वह मिथ्याचारित्र है। सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना, व्यवहाराभासी, अनादिरूढ़, मिथ्यादृष्टि, संसारतत्त्व ही कहलाता है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद शुभाशुभभावरूप कार्य को करता हुआ तद्रुप परिणमित हो, तथापि अन्तरङ्ग में ऐसा श्रद्धान है कि यह कार्य मेरा नहीं है। यदि शरीराश्रित व्रत-संयम को अपना माने तो मिथ्यादृष्टि होता है। ज्ञानी को सविकल्प परिणाम होता है।

[रहस्यपूर्ण चिट्ठी, पृष्ठ 2]

सम्यक्त्वी के व्यवहारसम्यक्त्व में व अन्य काल में अन्तरङ्ग निश्चयसम्यक्त्व गर्भित है। सदैव गमनरूप (परिणमनरूप) रहता है।

[रहस्यपूर्ण चिट्ठी, पृष्ठ 9]

तात्पर्य यह है कि मिथ्यादृष्टि जीव, अपने स्वभाव का आश्रय लेकर, अन्तरात्मा बनकर और क्रम से स्वरूप की स्थिरता करके, श्रेणी माण्डकर अरहन्त, सिद्धदशा प्राप्त कर लेता है।

चौथे-पाँचवें-छठवें गुणस्थान में निश्चय-व्यवहारसम्यक्त्व एक साथ होता है - ऐसा निश्चय करना चाहिए। ●●

31

धर्म का मूल

सम्यग्दर्शन, धर्म का मूल है। धर्म का अर्थ, चारित्र होता है क्योंकि चारित्रधारी को ही निर्वाण की प्राप्ति होती है।

जैसे—बीज ही नहीं, तब वृक्ष कैसे उपजेगा और वृक्ष ही नहीं उपजा, तब स्थिति किसकी होवे ? वृद्धि किसकी होय और फल का उदय कैसे होय ? वैसे ही सम्यग्दर्शन नहीं होवे, तब ज्ञान-चारित्र भी नहीं होय। सम्यक्त्व बिना जो ज्ञान है, वह कुज्ञान है और चारित्र है, वह कुचारित्र है। जब सम्यक्त्व बिना, ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति ही नहीं, तब स्थिति कहाँ से होवे और ज्ञान-चारित्र की वृद्धि कैसे होवे, और ज्ञान-चारित्र का फल, सर्वज्ञ परमात्मापना कैसे होय ? इसलिए सम्यक्त्व बिना, सत्य श्रद्धान ज्ञान-चारित्र कभी भी नहीं होता है।

[श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक 32 की टीका से]

सम्यक्त्वसहित अल्प हूँ, शुभभाव, अल्पज्ञान, अल्प चारित्र, अल्प तप इस जीव को कल्पवासी इन्द्रादिकनि में उपजाय, जन्म-मरण के दु:ख रहित परमात्मा कर देता है और सम्यक्त्व बिना बहुत शुभभाव हो, ग्यारह अङ्ग नौ पूर्व पाठी हो, शुक्ललेश्या हो, घोर तप करे, तो भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष में तथा अल्प ऋद्धिधारी कल्पवासीनि में उत्पन्न होकर फिर चारों गतियों में भ्रमण करता हुआ निगोद को चला जाता है; इसलिए सम्यक्त्वसहित ही ज्ञान, चारित्र, तपधारण करना जीव का कल्याण है। *[श्री आत्मानुशासन, श्लोक 15 की टीका से] तथा [श्री रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक 32, पृष्ठ 62]*

सर्वज्ञदेव ने शिष्यों को ऐसा उपदेश दिया है कि जैसे—मन्दिर की नींव तथा वृक्ष की जड़ होती है, वैसे चारित्र, धर्म है। धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है। '**दंसण मूलो धम्मो**'। *[श्री दर्शनपाहुड़, गाथा 2]*

सम्यग्दर्शन बिना, धर्मरूपी महल का मूल तो होता ही नहीं। अर्थात्, जैसे—जड़ के बिना वृक्ष नहीं, नींव के बिना मन्दिर नहीं; तैसे सम्यग्दर्शन के बिना, ज्ञान-चारित्र, धर्म नहीं है।

द्रव्यानुयोग का यह कथन, चरणानुयोग के साथ मेलवाला है।

'दंसण भूमिह बाहिरा, जिस वयरूंक्ख्ण हुन्ति'

अर्थ— हे जीव! सम्यग्दर्शन भूमि के बिना, व्रतरूपी वृक्ष नहीं होता है। यहाँ पर भी चारित्र का मूल सम्यग्दर्शन कहा है।

[योगीन्द्र देवकृत श्रावकाचार] तथा [श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 238]

सम्यग्दर्शन के बिना, चारित्र होता है - ऐसी शङ्का नहीं करनी और अज्ञानी संयमी देखने में आता है - ऐसा नहीं मानना चाहिए, क्योंकि संयमरूपी कार्य का कारणभूत सम्यग्दर्शन है और जहाँ सम्यग्दर्शन का अभाव होता है, वहाँ भावसंयमी कभी नहीं होता है और द्रव्यसंयम हो तो वह अज्ञानी की और बन्ध की पद्धति में है।

[श्री धवला, पुस्तक 1, पृष्ठ 175, 378]

श्रद्धान, वह सम्यक्त्व है और सम्यक्त्व, चारित्र का कारण है। जहाँ कारण न हो, तहाँ भावचारित्र (भावसंयम) प्रकट होय ही कहाँ से। जीव ने अनन्त बार द्रव्यसंयम धारण किया और संसार बढ़ाया और अब मनुष्यभव पा करके भी ऐसा ही करे, तो संसार वृद्धिगत होता है। सम्यग्दृष्टि सदा रागवर्जक है, जबकि मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा, द्रव्यसंयमी रागवर्धक है। *[श्रीसमयसार, छहढाला, रत्नकरण्डश्रावकाचार आदि]*

इस प्रकार द्रव्यानुयोग, करणानुयोग और चरणानुयोग के वीतरागी शास्त्रों में एक ही सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

प्रश्न - चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन होने पर जीव ने मोक्षमार्ग ग्रहण किया है - ऐसा कहलायेगा या नहीं ?

उत्तर - कहलायेगा, क्योंकि सम्यग्दर्शन होने पर जीव को आत्मस्वरूप की प्राप्ति, आत्मा के स्वभाव की प्राप्ति अथवा आत्मा के गुणीभूत स्वभाव की प्राप्ति होती है। इससे पूर्ण स्वभाव की प्राप्ति चौदहवें गुणस्थान में परमात्मा को होती है, उसी जाति की प्राप्ति चौथे गुणस्थान में अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि को होती है।

भगवान का लघुनन्दन चौथा गुणस्थानधारी जीव, शिवमार्ग में केली करता है। निज-पर का विवेक होने से मोक्षमार्ग में आनन्द करता है, सुख भोगता है। अरहन्तदेव का लघुपुत्र होने से थोड़े काल में ही अरहन्तपद प्राप्त करता है। मिथ्यादर्शन का नाश होने से, निर्मल सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ है - ऐसे सम्यग्दृष्टि जीवों को आनन्दमय अवस्था का निश्चय करके पण्डित बनारसीदासजी हाथ जोड़कर नमस्कार करते हैं—

भेदविज्ञान जग्यो जिनके घट, शीतल चित्त भयो जिम चन्दन।
केलि करें शिव मारग में, जगमाहिं जिनेश्वर के लघुनन्दन॥
सत्यस्वरूप सदा जिनके, प्रगट्यो अवदात मिथ्यात्व निकन्दन।
शान्तदशा तिनकी पहिचान, करै कर जोरि बनारसि बन्दन॥

[श्री समयसार-नाटक से]

सम्यग्दृष्टि को चारित्रमोहवश लेश भी संयम ना होय, तो भी सुरनाथ पूजते हैं (सम्मान करते हैं।) *[छहढाला], [श्री रत्नकरण्ड श्रावकचार, श्लोक 36, 37, 38, 39, 40-41 देखें]*

सन्मार्ग ग्रहण करता है, वह ही सम्यक्त्व प्राप्त करता है; सन्मार्ग का अर्थ मोक्षमार्ग होता है। *[श्री धवला, पुस्तक 1]*

इस प्रकार करणानुयोग, द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग का मेल जानना चाहिए, क्योंकि चारों अनुयोगों में एक ही बात है। सम्यग्दर्शन के

बिना, धर्म की शुरुआत नहीं होती है और सम्यग्दर्शन के बिना, ज्ञान –चारित्र नहीं होता है; इसलिए पात्र जीव को प्रथम, सम्यग्दर्शन प्राप्त करना है।

अल्प चारित्रधर्म

प्रश्न – चतुर्थ गुणस्थान में अल्प चारित्र की प्राप्ति होती है या नहीं?

उत्तर – होती है, क्योंकि चौथे गुणस्थान में मिथ्याचारित्र का अभाव होता है और उत्पादरूप आंशिक शुद्धि प्रगट होती है, ऐसा सिद्ध होता है।

'ऐसे दर्शनमोहनीय के अभावतैं सत्यार्थ श्रद्धान, सत्यार्थ ज्ञान प्रगट होय है और अनन्तानुबन्धी के अभावतैं स्वरूपाचरणचारित्र सम्यग्दृष्टि के प्रगट होय है।' *[श्री रत्नकरण्डश्रावकाचार, गाथा 41, पृष्ठ 68]*

प्रश्न – स्वरूपाचरणचारित्र किसे कहते हैं?

उत्तर – शुद्धात्मानुभव से अविनाभावी चारित्र विशेष को स्वरूपाचरणचारित्र कहते हैं।

[श्री जैनसिद्धान्त प्रवेशिका, गोपालदासजी, प्रश्न नं० 223]

प्रश्न – अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान का क्या रूप है?

उत्तर – दर्शनमोहनीय की तीन और अनन्तानुबन्धी की चार प्रकृतियाँ — इन सात प्रकृतियों के उपशम अथवा क्षय अथवा क्षयोपशम के सम्बन्ध से और अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ के उदय में युक्त होनेवाले, व्रतरहित तथा अंशतः स्वरूपाचरण-चारित्रसहित निश्चयसम्यक्त्वधारी चौथे गुणस्थानवर्ती होते हैं। (अनादि मिथ्यादृष्टि को पाँच प्रकृतियों का उपशम होता है।)

[श्री जैनसिद्धान्त प्रश्नोत्तर माला, प्रश्न 213]

[श्री जैनसिद्धान्त प्रवेशिका, गोपालदासी, प्रश्न 611]

इसलिए चौथे गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी के अभावरूप स्वरूपाचरणचारित्र नियम से होता ही है।

क्या है चारित्र....

घातिकर्मों को पाप कहते हैं और पाप क्रिया का नाम मिथ्यात्व, असंयम और कषाय कहा है।

(देखिए यहाँ मिथ्यात्व, असंयम, कषाय के अभाव को चारित्र कहा है।) *[श्री धवला, पुस्तक 6, पृष्ठ 40]*

चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी कषाय की निवृत्ति होती है, तभी चारित्र की कणिका प्रगट होती हैं और चारित्रगुण से शिखा फूटती है, तब वहाँ धाराप्रवाहरूप से मोक्षमार्ग की तरफ चलता है। चारित्रगुण की शुद्धता के द्वारा चारित्रगुण निर्मल होता है और वह निर्मलता, यथाख्यातचारित्र का अङ्कुर है। सम्यग्दर्शन होने पर सम्यग्ज्ञान, स्वरूपाचरण की कणिका जागृत होती है, तब मोक्षमार्ग सच्चा होता है। *[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक में समागत, उपादान-निमित्त चिट्ठी से]*

परिणति के स्वाद को चारित्र कहा है।

[श्री धवला, पुस्तक 7, पृष्ठ 107]

चारित्र की कणिका इतनी थोड़ी है कि संयम, चारित्र ऐसे नाम को प्राप्त नहीं होती है; इसलिए सम्यग्दृष्टि को असंयत सम्यग्दृष्टि कहा है।

दर्शनविशुद्धि मूल है। सम्यग्दर्शन, धर्म का मूल है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान ज्योति का मूल है। सम्यग्दर्शन, वह सम्यग्ज्ञान में उपयुक्त होने का मूल है।

धर्म की व्याख्या

- **'चारित्त खलु धम्मो'** चारित्र, वह वास्तव में धर्म है।
- धर्म है, सो साम्य है।

● स्वरूप में चरना, वह चारित्र है। स्वसमय में प्रवृत्ति, ऐसा उसका अर्थ है।

● मोह-क्षोभरहित आत्मा का परिणाम, वह धर्म है।

[श्री प्रवचनसार, गाथा 7]

अहिंसा लक्षण धर्म; सागर-अनगाररूप धर्म; उत्तम क्षमादि दशलक्षण धर्म; मोह-क्षोभरहित आत्मपरिणाम धर्म।

[श्री प्रवचनसार, जयसेनाचार्य, गाथा 7]

मिथ्यात्व, रागादि संसरणरूप भावसंसार में पड़ते प्राणियों को उद्धार कर, निर्विकार शुद्ध चैतन्य को प्राप्त करे, वह धर्म है।

[श्री प्रवचनसार, जयसेनाचार्य, गाथा 7]

जो नरक, तिर्यञ्चादिक गति में परिभ्रमणरूप दुःख तै आत्मा को छुड़ाय उत्तम, आत्मिक, अविनाशी, अतीन्द्रिय मोक्षसुख में धारण करे, सो धर्म हैं।

धर्म तो आत्मा का स्वभाव है। जो पर में आत्मबुद्धि छोड़, अपना ज्ञाता-दृष्टारूप स्वभाव का श्रद्धान, अनुभव तथा ज्ञायकस्वभाव में ही प्रवर्तनरूप जो आचरण, वह धर्म है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र - इन तीनों को धर्म के ईश्वर भगवान तीर्थङ्कर परमदेव, धर्म कहते हैं।

[श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार, गाथा 2-3, पृष्ठ 2 में तथा 7-8-9 में धर्म की व्याख्या की है]

ऊपर की व्याख्याओं से ऐसा सिद्ध हुआ श्रावक-मुनि, दोनों धर्म हैं; इसलिए वह चारित्र है, साम्य है। चौथे गुणस्थानधारी जीवों को मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी कषाय के अभावरूप स्वरूपाचरणचारित्र होता है; इसलिए वह भी धर्म है, साम्य है - ऐसा जानना।

चारित्र की व्याख्या

स्वरूप में चरना, वह चारित्र है। स्वसमय में प्रवृत्ति उसका अर्थ है। *[श्री प्रवचनसार, गाथा 7]*

चरण, वह स्वधर्म है। धर्म, आत्मस्वभाव है और वह रागद्वेष-रहित जीव के अनन्य परिणाम हैं। *[श्री मोक्षपाहुड़, सूत्र 50]*

जो जानता है, वह ज्ञान और जो प्रतीति करता है, वह दर्शन। दोनों के सहयोग (एकमेक) से चारित्र है। *[श्री चारित्रपाहुड़, सूत्र 3]*

आत्मलीन जीव, सम्यग्दृष्टि है। जो आत्मा को जानता है, वह सम्यग्ज्ञान है और उसमें रक्त, वह चारित्र है। *[श्री भावपहुड़, गाथा 31]*

शुद्धात्मश्रद्धानरूप सम्यक्त्व का विनाश, वह दर्शनमोह है। निर्विकार निश्चय चित्तवृत्ति विनाशक, वह क्षोभ है।

[श्री प्रवचनसार, जयसेनाचार्य, गाथा 7]

इस प्रकार धर्म, चारित्र, साम्य, मोह-क्षोभरहित परिणाम ऐकार्थवाचक हैं।

घातियाकर्मों को पाप कहा है। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय ये पापक्रिया है। इन पाप क्रियाओं का अभाव होना, वह चारित्र है।

[श्री धवला, पुस्तक 6, पृष्ठ 40]

संयमन करने को संयम कहते हैं। संयम शब्द का अर्थ सम्यक् होता है। इसलिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानपूर्वक अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग आस्रवों से विरत, वह संयम है। *[श्री धवला, पुस्तक 1, पृष्ठ 144, 369]*

चारित्र दो प्रकार का है - देशचारित्र, सकलचारित्र। श्रावक को पाँचवाँ गुणस्थान और मुनियों को छठा, सातवाँ गुणस्थान है। वहाँ निश्चयस्वभावभूत का सच्चा अंश होता है।

[श्री धवला, पुस्तक 5, पृष्ठ 233]

संयम कहने से छठवें गुणस्थान से तेरहवें गुणस्थान तक का ग्रहण है क्योंकि संयमभाव की अपेक्षा कोई भेद नहीं है। इस प्रकार करणानुयोग के शास्त्रों का कथन स्पष्ट है। निश्चयचारित्र पाँचवें, छठवें गुणस्थानवर्ती श्रावक और मुनि को होता है। वह सच्चा चारित्र है।

इसलिए मुनि के योग्य स्वरूपाचरणचारित्र होवे, तब श्रावक को एकदेशस्वरूपाचरण चारित्र होता है। चौथे गुणस्थान में स्वरूपाचारणचारित्र का मूल ही होता है क्योंकि दर्शन, धर्म का मूल है। स्वरूपाचरणचारित्र धर्म है। उसको मनाक् (अल्प) धर्मपरिणति अथवा स्वरूपाचरणचारित्र की कणिका की शिखा फूटना कहो, एक ही बात है।

अनन्तानुबन्धी की अभावतै स्वरूपाचरणचारित्र सम्यग्दृष्टि के प्रगट होता है। *[श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार, गाथा 41, पृष्ठ 68]*

चौथे गुणस्थान में संवर शब्द को शुद्धोपयोग कहा है।

[श्री वृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा 34]

सम्यग्दर्शन, स्वरूपाचरणचारित्र का मूल है। वहाँ अनन्तानुबन्धी का अभाव है, इसलिए चौथे गुणस्थान में स्वरूपाचरणचारित्र होता है – ऐसा सिद्ध किया है। इस पर भी जो कहते हैं कि स्वरूपाचरणचारित्र नहीं होता; तो मिथ्याचारित्र होना चाहिए, परन्तु यह न्यासङ्गत नहीं है और जो कहते हैं कि चौथे गुणस्थान में स्वरूपाचरणचारित्र नहीं होता है, वह मिथ्यादृष्टि, जिनमत से बाहर, पापी और जिनशासन का विरोध करनेवाले हैं।

तत्त्वज्ञान के अभ्यास से कोई पदार्थ इष्ट–अनिष्ट ना भासै, तब स्वयमेव क्रोधादिक उत्पन्न नहीं होते, तब सच्चा धर्म होता है।

[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 229]

पुण्य, अर्थात् शुभभाव

(अ) जिनशासन में जिनेन्द्रदेव ने ऐसा कहा है कि पूजा आदिक (भगवान की भक्ति, वन्दना, शास्त्र स्वाध्याय), व्रतसहित हो, तो पुण्य हो और मोह–क्षोभरहित आत्मा का परिणाम धर्म है। (पुण्य, धर्म का विरोधी है; पुण्य से धर्म नहीं होता, किन्तु आस्रव–बन्धरूप

अधर्म होता है - ऐसा स्पष्ट बताया है।) *[श्री भावपाहुड़, गाथा 83]*

लौकिकजन तथा अन्यमती कोई ऐसा कहे कि, जो पूजादिक शुभक्रिया और व्रतक्रिया सहित हो, वह जिनधर्म है, किन्तु ऐसा नहीं है... उपवास, व्रतादि जो शुभक्रिया है, जिनमें आत्मा के रागसहित शुभपरिणाम हैं, उससे पुण्यकर्म उत्पन्न होता है; इसलिए उसे पुण्य कहते हैं और उसका फल, स्वर्गादिक भोग की प्राप्ति है। जो विकाररहित शुद्ध दर्शन-ज्ञानरूप निश्चय हो, वह आत्मा का धर्म है, उस धर्म से संवर होता है, संवरपूर्वक निर्जरा होते हुए मोक्ष होता है; इसलिए मोह-क्षोभरहित आत्मा का परिणाम धर्म है।

[श्री भावपाहुड़, गाथा 83 का भावार्थ]

जो जैन, पूजा-व्रत-दानादि शुभक्रिया से धर्म मानते हैं, वे जिनमत से बाहर हैं। *[श्री भावपाहुड़, गाथा 84-85 भावार्थ]*

प्रश्न - पुण्य से संवर-निर्जरा-मोक्ष कौन मानता है ?

उत्तर- श्वेताम्बर, 'व्रतादिरूप शुभोपयोग ही से देवगति का बन्ध मानते हैं और उसी से मोक्षमार्ग मानते हैं, सो बन्धमार्ग और मोक्षमार्ग को एक किया, परन्तु यह मिथ्या है।'

[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 158]

व्यवहार कुछ तो मददगार है; व्यवहार को निमित्त कहा है ना; ऐसे पुण्यकर्म के पक्षपाती को, अर्थात् व्रत-शीलादि को मोक्ष के कारणरूप में अङ्गीकार करते हैं, उन्हें नपुंसक कहा है।

[श्री समयसार, गाथा 154]

निश्चय के विषय को छोड़कर, विद्वान (मूर्ख) व्रतादि निमित्त व्यवहार के द्वारा ही प्रवृर्ते हैं, उन पण्डितों का कर्मक्षय नहीं होता है।

[श्री समयसार, गाथा 156]

भगवान द्वारा कहे हुए व्रत, समिति, गुप्ति, शील, तप करता

हुआ भी अभव्य-अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि है। *[श्री समयसार, गाथा 273]*

सम्यग्दृष्टि के शुभभाव को मोक्ष का घातक कहा है।

[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 255]

जो शुभभावों से मोक्ष, संवर, निर्जरा मानते हैं, उन्हें मिथ्यादृष्टि, पापी, मोही, दुष्ट, अनिष्ट, मोक्ष का घातक आदि अनेक नामों से कहा है। *[श्री समयसार, कलश 100 से लेकर 112 तक]*

(मिथ्यादृष्टि के शुभभाव) 'समस्त अनर्थ परम्पराओं का रागादि विकल्प ही मूल हैं।' मिथ्यादृष्टि के शुभभावों को पापबन्ध का कारण कहा है। *[श्री पञ्चास्तिकाय, जयसेनाचार्य, गाथा 168]*

[श्री परमात्मप्रकाश, अध्याय प्रथम, गाथा 98]

देव-गुरु-शास्त्र, पर है; इनके आश्रय से जो भाव है, वह पराश्रितभाव है; इसलिए वह भाव, त्यागने योग्य और बन्ध का कारण है; संवर-निर्जरा का कारण नहीं है, पराश्रितभाव है, अतत्त्वश्रद्धान है; क्रोध, मान, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, ये छह द्वेषपरिणति हैं और माया, लोभ, रति, हास्य, पुरुष, नपुंसक, स्त्रीवेद - ये सात राग-परिणति है। इनके निमित्त से विकारसहित मोह-क्षोभरूप चकाचक व्याकुल परिणाम हैं।

जो परमात्मा की पूजा-भक्ति, शास्त्रस्वाध्याय, दया, दान, यात्रादि शुभभावों से अपना हित होना माने, वह मिथ्यात्वलम्बी है। निश्चयसम्यग्दर्शन होने पर, चारित्रगुण की पर्याय में दो अंश हो जाते हैं, जितनी शुद्धि है, वह मोक्षमार्ग है और जो अशुद्धि है, वह बन्धमार्ग है परन्तु चौथे-पाँचवें-छठवें गुणस्थानों में भूमिकानुसार, शुभभावों को व्यवहारधर्म कहा है, परन्तु वह आस्रव-बन्ध का कारण है; उससे अल्प संसार का बन्ध होता है, ऐसा बताया है परन्तु जो जीव, मात्र शुभभावों से ही धर्म मानते हैं, उनको तो कभी धर्म की प्राप्ति का अवकाश ही नहीं।

मिथ्यादृष्टि का शुभोपयोग तो शुद्धोपयोग का कारण है हीं नहीं परन्तु सम्यग्दृष्टि को शुभोपयोग होने पर, उसका अभाव करके नियम से शुद्ध में आ जाता है - इस अपेक्षा चरणानुयोग में कहीं -कहीं मोक्ष का कारण कहा है। उसका अर्थ 'ऐसा है नहीं, निमित्त की अपेक्षा कथन किया है।' वास्तव में तो शुभभाव किसी का भी हो, वह बन्ध का ही कारण है - ऐसा जानना।

[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 256]

एकदेश मोह-क्षोभ का अभाव होने पर जो-जो शुभपरिणाम होते हैं, उन्हें उपचार से धर्म कहा जाता है। वास्तव में तो वे वीतरागता के शत्रु हैं, किन्तु निमित्त का ज्ञान कराने के लिए व्यवहारनय से ऐसा कथन आता है।

भगवान कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्रादि आचार्यों ने शुभभाव को अपवित्र, जड़स्वभावी, दु:खरूप, लाख के समान घातक, अनित्य, अध्रुव, अशरण, वर्तमान में दु:खरूप, आगामी भी दु:खरूप कहा है, तब कोई मूर्ख, शुभभावों से मोक्ष या संवर-निर्जरा कहे, आश्चर्य है।

[श्री समयसार, गाथा 72-74]

जैसे, अन्धकार और प्रकाश के तथा सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान के साथ रहने में विरोध है; वैसे ही चौथे गुणस्थान से लेकर यथाख्याचारित्र तक ज्ञानधारा और कर्मधारा के साथ रहने में विरोध नहीं है। यथाख्यातचारित्र प्रगट होने पर कर्मधारा का अभाव हो जाता है।

जब तक पुण्यकर्म, पुण्यभाव, पुण्य की सामग्री और परलक्ष्यी ज्ञान की मिठास रहेगी, तब तक सर्वज्ञ-सर्वदर्शी स्वभाव की श्रद्धा भी नहीं हो सकती, अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होगी और जब तक पर्याय में शुभभाव रहेगा, तब तक सर्वज्ञ-सर्वदर्शी नहीं बन सकता। *[श्री समयसार, गाथा 160]*

जीव का हित : मोक्ष

जीव का हित, मोक्ष है; इसलिए मोक्ष की प्राप्ति के लिए कहा है कि सम्यग्दर्शन का फल, चारित्र है और चारित्र का फल, मोक्ष है। चारित्र के बिना कोई भी जीव, मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है; इसलिए तीर्थङ्कर नामकर्मसहित और तीन ज्ञानसहित जन्मे हुए जीवों को भी चारित्रदशा प्राप्त किए बिना, अर्थात् भावलिङ्गी मुनिदशा पाये बिना, मोक्ष नहीं होता; इसलिए सम्यग्दर्शन होने पर ही संवर, अर्थात् धर्म की शुरुआत होती है।

संवर की महिमा पण्डित बनारसीदास जी ने गायी है:—

आस्रवरूप राक्षस, जगत के जीवों को अपने वश में करके अभिमानी हो रहा है, वह अत्यन्त दु:खदायक और महाभयानक है। उसका वैभव नष्ट करने योग्य है। उसके वैभव को नष्ट करने के लिए जो उत्पन्न हुआ है, वह धर्म का कारक है। कर्मरूप रोग को मेटने के लिए वैद्य समान है। जिसके प्रभाव से परद्रव्यजनित राग-द्वेष आदि विभावभाव भाग जाते हैं। जो अत्यन्त प्रवीण और अनादि काल से प्राप्त नहीं हुआ था, इसलिए वह नवीन है। सुख समुद्र की सीमा को प्राप्त किया जिसने, ऐसे संवररूप को धारण किया है, वह मोक्षमार्ग का साधक है – ऐसे ज्ञानी बादशाह को मेरा प्रणाम।

तेरहवें गुणस्थान में जीव, केवलज्ञान प्राप्त करता है और चौदहवें गुणस्थान में आयोगीदशा को प्राप्त होता है। चौदहवें गुणस्थान के अन्त में सिद्धदशा, अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है। सर्व गुणस्थान, जीव को देहसहित अवस्था में होते हैं। मोक्षदशा, गुणस्थानों की कल्पना से रहित है; इसलिए गुणस्थान, जीव का स्वरूप नहीं है, पर है, परजनितभाव है – ऐसा जानकर, गुणस्थानों के विकल्परहित शुद्ध-बुद्ध आत्मा का अनुभव करना चाहिए।

[श्री समयसार-नाटक, चतुर्दश गुणस्थान अधिकार]

आत्मा और बन्ध को अलग-अलग करना मोक्ष है। जो निर्विकार चैतन्य-चमत्कारमात्र आत्मस्वभाव को और उस आत्मा के विकार करनेवाले भावबन्ध के स्वभाव को जानकर, बन्धों से विरक्त होता है, वही समस्त कर्मों से मुक्त होता है। *[श्री समयसार, गाथा 293]*

बन्ध का स्वलक्षण तो आत्मद्रव्य से असाधारण ऐसे रागादि हैं। यह रागादि, आत्मद्रव्य के साथ साधारणत: धारण करते हुए प्रतिभासित नहीं होते, क्योंकि वे सदा चैतन्य-चमत्कार से भिन्नरूप प्रतिभासित होते हैं और जितना चैतन्य, आत्मा की समस्त पर्यायों में व्याप्त होता हुआ प्रतिभासित होता है, उतने ही रागादिक प्रतिभासित नहीं होते, क्योंकि रागादि के बिना भी चैतन्य का आत्मलाभ सम्भव है। (अर्थात्, जहाँ रागादि न हो, वहाँ भी चैतन्य होता है।)

[श्री समयसार, गाथा 294 टीका से]

जो पुरुष पहले समस्त परद्रव्य का त्याग करके, निजद्रव्य में (आत्मस्वरूप में) लीन होता है, वह पुरुष, समस्त रागादिक (महाव्रतादिक) अपराधों में रहित होकर, आगामी बन्ध का नाश करता है और नित्य उदयरूप केवलज्ञान को प्राप्त करके, शुद्ध होकर समस्त कर्मों का नाश करके, मोक्ष को प्राप्त करता है। यह मोक्ष होने का क्रम है। *[श्री समयसार, कलश 191 का भावार्थ]*

शुभोपयोग पुण्यभावों से कभी भी मोक्षसुख की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि वे प्रशस्तराग हैं। वह (प्रशस्तराग) स्वर्गसुख का कारण है और मोक्षसुख का कारण वीतरागभाव है; इसलिए कारणों में भी भेद है परन्तु अज्ञानियों को प्रतिभासित नहीं होता।

[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 234]

सम्पूर्णतया कर्ममल कलङ्करहित, शरीररहित आत्मा के आत्यन्तिक स्वभाविक-अचिन्तय-अद्भुत तथा अनुपम-सकल

-विमल-केवलज्ञानादिक अनन्त गुणों का स्थानरूप जो अवस्थान्तर है, वही मोक्ष है। *[श्री वृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा 37 की टीका]*

मुक्त आत्मा का सुख—

आत्मा, उपादानकारण से सिद्ध, स्वयं अतिशययुक्त, बाधा से शून्य, विशाल, वृद्धि-ह्रास से रहित, विषयों से रहित, प्रतिद्वन्द (प्रतिपक्षता) से रहित, अन्य द्रव्यों से निरपेक्ष, उपमारहित, अपार, नित्य, सर्वदा उत्कृष्ट तथा अनन्त सारभूत परमसुख उन सिद्धों को होता है। *[श्री वृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा 37 की टीका तथा पूज्यपादस्वामी कृत सिद्धभक्ति, गाथा 7]*

प्रश्न - कौनसा जीव, मोक्ष है?

उत्तर- संवर से युक्त ऐसा जीव, सर्व कर्म की निर्जरा करता हुआ, वेदनीय और आयुरहित होकर, भव को छोड़ता है; इसलिए वह जीव, मोक्ष है। *[श्री पञ्चास्तिकाय, गाथा 153]*

32

विविध प्रश्नोत्तर

सोहं और अनुभव

'सोहं' शब्द का तो अर्थ यह है 'सो मैं हूँ'। यहाँ ऐसी अपेक्षा चाहिए कि — 'सो' कौन ? तब उसका निर्णय करना चाहिए क्योंकि 'तत्' शब्द को और 'यत्' शब्द को नित्य सम्बन्ध है। इसलिए वस्तु का निर्णय करके उसमें अहंबुद्धि धारण करने में 'सोहं' शब्द बनता है। वहाँ भी आपको आपरूप अनुभव करे, वहाँ तो 'सोहं' शब्द सम्भव नहीं है; पर को अपने रूप बतलाने में 'सोहं' शब्द सम्भव है। जैसे— पुरुष आपको आप जाने, वहाँ 'सो मैं हूँ' - ऐसा किसलिए विचारेगा ? कोई अन्य जीव, जो अपने को न पहिचानता हो और कोई अपना लक्षण न जानता हो, तब उससे कहते हैं— 'जो ऐसा है, सो मैं हूँ' उसी प्रकार यहाँ जानना। *[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 121]*

'तत्' शब्द है, वह 'यत्' शब्द की अपेक्षासहित है; इसलिए जिसका प्रकरण हो, उसे 'तत्' कहते हैं और जिसका जो भाव, अर्थात् स्वरूप हो, उसे तत्त्व जानना; क्योंकि 'तस्य भावस्तत्त्वम्' - ऐसा तत्त्व शब्द का समास होता है। *[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 317]*

चौथे-पाँचवें-छठवें गुणस्थान में शुद्ध के साथ शुभ से भी धर्म की प्राप्ति नहीं होती है परन्तु शुद्ध के साथ शुभ होने से (वह शुभ, शत्रु है, बन्ध का कारण है; आत्मा का नाश करनेवाला है, घातक है।) शत्रु को भी भूमिकानुसार आ पड़ने से सहचारी (निमित्त)

व्यवहारनय कहा है परन्तु ज्ञानी का शुभभाव भी बन्ध का कारण है, हेय है, आत्मा के स्वभाव में विघ्नकारक है; इसलिए त्याज्य है।

जो श्रद्धा में शुभ को मोक्ष का कारण माने, वह मिथ्यादृष्टि ही होता है। *[श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 233]*

दिगम्बर नाम धराके अपने को शुभरूप का श्रद्धान-ज्ञान और आचरण करता है, अर्थात् अपने को अणुव्रती, महाव्रती आदि मानता है, उसे 'सोहं' शब्द लागू नहीं हो सकता है।

प्रश्न - आत्मा का अनुभव किस गुणस्थान में होता है?

उत्तर- चौथे से ही होता है, परन्तु चौथे में तो बहुत काल के अन्तराल से होता है और ऊपर के गुणस्थानों में शीघ्रातिशीघ्र होता है।

प्रश्न - अनुभव तो निर्विकल्प है, वहाँ ऊपर के और नीचे के गुणस्थानों में भेद क्या है?

उत्तर - परिणामों की मग्नता में विशेष है। जैसे, दो पुरुष नाम लेते हैं और दोनों ही के परिणाम नाम में हैं; वहाँ एक को तो मग्नता विशेष और और एक को थोड़ी है। उसी प्रकार यहाँ जानना।

[रहस्यपूर्ण चिट्ठी, पृष्ठ 7]

प्रश्न - ऐसा अनुभव किस भाव में होता है?

उत्तर - वह परिणमन आगमभाषा में औपशमिक, क्षायोपशमिक क्षायिक - ऐसे तीन भावरूप कहलाता है और अध्यात्मभाषा से शुद्धात्म-अभिमुखपरिणाम शुद्धोपयोग इत्यादि पर्याय-संज्ञा नाम पाते हैं। यह भावनारूप (एकाग्रता) मोक्षकारणभूत पर्याय है।

चौथे गुणस्थान में यह तीनों भाव होते हैं; इसलिए चौथे गुणस्थान से अनुभव होता है। *[श्री समयसार, जयसेनाचार्य टीका, गाथा 320 से]*

चौथे गुणस्थान में सिद्धसमान क्षायिकसम्यक्त्व हो जाता है;

इसलिए सम्यक्त्व तो केवल यथार्थ श्रद्धानरूप ही है।

[रहस्यपूर्ण चिट्ठी, पृष्ठ 4]

शुद्ध आत्मा में ही प्रवृत्ति करना योग्य है

मैं, यह मोक्ष अधिकारी ज्ञायकस्वभावी आत्मतत्त्व के परिज्ञानपूर्वक ममत्व के त्यागरूप और निर्ममत्व में ग्रहण विधि के द्वारा सर्व उद्यम से शुद्ध आत्मा में प्रवर्तता हूँ क्योंकि मेरे में अन्य कृत्य (महाव्रतादि) का अभाव है।

इस प्रकार से प्रथम तो मैं स्वभाव से ज्ञायक ही हूँ। केवल ज्ञायक होने से मेरा विश्व के साथ भी सहज ज्ञेय-ज्ञायक लक्षण सम्बन्ध ही है परन्तु अन्य लक्षणादि सम्बन्ध नहीं है; इसलिए मेरा किसी के भी प्रति ममत्व नहीं; सर्वत्र निर्ममत्व ही हूँ।

'अब एक ज्ञायकभाव का सर्व ज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से' क्रम से प्रवर्तता अनन्त, भूत-वर्तमान-भावी विचित्र पर्याय समूहवाला, अगाध, स्वभाव और गम्भीर ऐसा समस्त द्रव्यमात्र को जानता हूँ। मानो कि सब द्रव्य, ज्ञायक में उत्कीर्ण हो गए हों, चित्रित हो गए हों, भीतर घुस गए हों, कीलित हो गए हों, डूब गए हों, समा गए हों, प्रतिबिम्बित हुए हों, ऐसा एक क्षण में ही जो (शुद्ध आत्मा) प्रत्यक्ष करता है। ज्ञेय-ज्ञायक लक्षण सम्बन्ध की अनिवार्यता के कारण ज्ञेय-ज्ञायक को भिन्न करना अशक्य होने से, विश्वरूपता को प्राप्त होने पर भी, जो (शुद्ध आत्मा) सहज शक्ति ज्ञायकस्वभाव द्वारा एकरूपपने को छोड़ता नहीं है।

जो अनादि संसार से आज स्थिति तक (ज्ञायकस्वभावरूप से ही) रहा है और जो मोह के द्वारा अन्यथा अवस्थित होता है, (अर्थात्, दूसरे प्रकार जानता-मानता है), वह शुद्ध आत्मा को, यह मैं मोह को जड़-मूल से उखाड़कर अति निष्कम्प वर्तता हुआ, यथास्थित ही (जैसा है, वैसा ही) प्राप्त करता हूँ।

इस प्रकार दर्शनविशुद्ध जिसका मूल है - ऐसा जो सम्यग्ज्ञान में उपयुक्तरूप होने के कारण अव्यावाध लीनता होने से, साधु होने पर भी साक्षात् सिद्धभूत ऐसा निज आत्मा को, वैसे ही तथाभूत (सिद्धभूत) परमात्माओं को, वैसे ही एक परायणपणा जिसका लक्षण है, ऐसा भावनमस्कार सदा ही स्वयमेव हो।

[श्री प्रवचनसार, गाथा 200 की टीका से]

राग के अवलम्बन बिना, वीतराग का मार्ग

निश्चय स्वभाव के आश्रित मोक्षमार्ग है — उसमें राग का अवलम्बन नहीं है।

निज परमात्मा की भावना, मोक्षमार्ग है — उनमें राग का अवलम्बन नहीं है।

औपशमिकादिभाव, वह मोक्षमार्ग है — उसमें राग का अवलम्बन नहीं है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह मोक्षमार्ग है — उसमें राग का अवलम्बन नहीं है।

शुद्ध उपादानकारण, वह मोक्षमार्ग है — उसमें राग का अवलम्बन नहीं है।

भावश्रुतज्ञान, वह मोक्षमार्ग है — उसमें राग का अवलम्बन नहीं है।

शुद्धात्म-अभिमुखपरिणाम, वह मोक्षमार्ग है — उसमें राग का अवलम्बन नहीं है।

शुद्धात्मा का ध्यानरूप मोक्षमार्ग है — उसमें राग का अवलम्बन नहीं है।

शुद्धोपयोग, वह मोक्षमार्ग है — उसमें राग का अवलम्बन नहीं है।

वीतरागभाव, वह मोक्षमार्ग है — उसमें राग का अवलम्बन नहीं है।

प्रश्न - तीन बातें कौन-कौनसी याद रखनी चाहिए?

उत्तर - अपनी आत्मा के अलावा, परद्रव्यों से तो किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है;

अपनी पर्याय में एक समय की भूल है;

भूलरहित स्वभाव मैं हूँ - ऐसा जानकर भूतार्थ के आश्रय से अपने में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति करना ही प्रत्येक जीव का परम कर्तव्य है।

प्रश्न - आत्महित के लिए प्रयोजनभूत कार्य क्या हैं?

उत्तर - प्रत्येक द्रव्य, स्वतन्त्र है। उसका चतुष्टय स्वतन्त्र है; इसलिए पर को अपना मानना छोड़।

जब वस्तु का परिणमन स्वतन्त्र है, तो तू उससे क्या करेगा? अगर वह तेरे द्वारा की हुयी परिणमेगी, तो उसका परिणमन - स्वभाव व्यर्थ हो जायेगा और जो शक्ति जिसमें है ही नहीं, वह दूसरा देगा भी कहाँ से? इसलिए मैं इसका ऐसा परिणमन करा दूँ या यह यूँ परिणमें तो ठीक - यह पर की कर्तृत्वबुद्धि छोड़।

जब एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य को छू भी नहीं सकता, तो भोगना क्या? अतः यह जो पर के भोग की चाह है, इसे छोड़। यह तो नास्ति का उपदेश है, किन्तु इस कार्य की सिद्धि 'अस्ति' से होगी और वह इस प्रकार है कि जैसे कि तुझे मालूम है, तेरी आत्मा में दो स्वभाव हैं - एक त्रिकालीस्वभाव-अवस्थित; दूसरा परिणाम / पर्यायधर्म। अज्ञानी जगत तो अनादि से अपने को पर्यायबुद्धि से देखकर उसी में रत है। तू तो ज्ञानी बनना चाहता है। अपने को त्रिकालीस्वभावरूप

समझ। वैसा ही अपने को देखने का अभ्यास कर। यह जो तेरा उपयोग पर में भटक रहा है, उसको पर की ओर न जाने दे, स्वभाव की ओर इसे मोड़। जहाँ तेरी पर्याय ने पर के बजाय अपने घर को पकड़ा और निज समुद्र में मिली तो स्वभावपर्याय प्रगट हुई। बस, उस स्वभावपर्याय प्रगट होने का नाम ही सम्यग्दर्शन है। तीन काल और तीन लोक में इसकी प्राप्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसके होने पर तेरा पूर्व का सब ज्ञान, सम्यक् होगा। ज्ञान का झुकाव पर से हटकर स्व में होने लगेगा। ये दोनों गुण जो अनादि से संसार के कारण बने हुए थे, ये फिर मोक्षमार्ग के कारण होंगे। ज्यों-ज्यों ये पर से छूटकर, स्व घर में आते रहेंगे, त्यों-त्यों उपयोग की स्थिरता आत्मा में होती रहेगी। स्व की स्थिरता का नाम ही चारित्र है और वह स्थिरता शनैः शनैः पूरी होकर, तू अपने स्वरूप में जा मिलेगा, अर्थात् सिद्ध हो जाएगा।

प्रश्न - कभी सम्यग्दर्शनादि को बन्ध का कारण और कभी शुभभावों को मोक्ष का कारण क्यों कहते हैं ?

उत्तर - शास्त्रों में कभी-कभी दर्शन-ज्ञान-चारित्र को भी, यदि वे परसमय-प्रवृत्ति (राग) युक्त हों, तो कथञ्चित बन्ध का कारण कहा जाता है और कभी ज्ञानी को वर्तते हुए शुभभावों को भी कथञ्चित मोक्ष का परम्परा हेतु कहा जाता है। शास्त्रों में आनेवाले ऐसे भिन्न-भिन्न पद्धति के कथनों को सुलझाते हुए यह सारभूत वास्तविकता ध्यान में रखना चाहिए कि — ज्ञानी को जब शुद्धाशुद्धरूप मिश्रपर्याय वर्तती है, तब वह मिश्रपर्याय एकान्त से संवर-निर्जरा-मोक्ष का कारणभूत नहीं होती अथवा एकान्त से आस्रव-बन्ध का कारणभूत नहीं होती परन्तु उस मिश्रपर्याय का शुद्ध अंश संवर-निर्जरा-मोक्ष का कारणभूत होता है और अशुद्ध अंश, आस्रव-बन्ध

का कारणभूत होता है। *[श्री पञ्चास्तिकाय, गाथा 164 टीका तथा फुटनोट]*

ज्ञानी को शुद्धाशुद्धरूप मिश्रपर्याय में जो भक्ति आदिरूप शुभ अंश वर्तता है, वह तो मात्र देवलोकादिक के क्लेश की परम्परा का ही हेतु है और साथ ही साथ ज्ञानी को जो शुद्ध अंश वर्तता है, वह संवर-निर्जरा का तथा (उतने अंश में) मोक्ष का हेतु है। वास्तव में ऐसा होने पर भी, शुद्ध अंश में स्थित संवर-निर्जरा-मोक्ष हेतुत्व का आरोप और उसके साथ के भक्ति आदि शुभ अंश में उपचार करके, उन शुभभावों को देवलोकादि के क्लेश की प्राप्ति की परम्परासहित मोक्ष प्राप्ति के हेतुभूत कहा गया है। यह कथन आरोप से (उपचार से) किया गया है - ऐसा समझना। [ऐसा कथञ्चित मोक्ष हेतुत्व का आरोप भी ज्ञानी को ही वर्तते हुए भक्ति आदिरूप शुभभावों में किया जा सकता है। अज्ञानी को तो शुद्धि का अंशमात्र भी परिणमना न होने से यथार्थ मोक्ष हेतु बिल्कुल प्रकट ही नहीं हुआ है— विद्यमान ही नहीं है तो फिर वहाँ उसके भक्ति आदिरूप शुभभावों में आरोप किसका किया जाये?]

[श्री पञ्चास्तिकाय, गाथा 170 टीका तथा फुटनोट]

प्रश्न - व्यवहारमोक्षमार्ग को कैसे प्राप्त कर सकता है?

उत्तर - यहाँ यह ध्यान में रखने योग्य है कि जीव, व्यवहारमोक्षमार्ग को भी अनादि अविद्या का नाश करके ही प्राप्त कर सकता है; अनादि अविद्या का नाश होने से पूर्व तो (अर्थात्, निश्चयनय के—द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत शुद्धात्मस्वरूप का भान करने से पूर्व तो) व्यवहारमोक्षमार्ग भी नहीं होता, अर्थात् चौथे गुणस्थान से पहले व्यवहारमोक्षमार्ग का प्रारम्भ भी नहीं होता।

[श्री पञ्चास्तिकाय, गाथा 161 टीका तथा फुटनोट]

प्रश्न - निश्चय-व्यवहार का साध्य-साधकपना किस प्रकार है?

उत्तर - 'निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग को साध्य -साधनपना अत्यन्त घटित होता है' ऐसा जो कहा गया है, वह व्यवहारनय द्वारा किया गया उपचरित निरुपण है। उसमें से ऐसा अर्थ निकालना चाहिए कि 'छठवें गुणस्थान में वर्तते हुए शुभविकल्पों को नहीं, किन्तु छठवें गुणस्थान में वर्तते हुए शुद्धि के अंश को और सातवें गुणस्थान योग्य निश्चयमोक्षमार्ग को वास्तव में साध्य -साधनपना है। छठवें गुणस्थान में वर्तता हुआ शुद्धि का अंश बढ़कर, जब और जितने काल तक उग्रशुद्धि के कारण शुभविकल्पों का भी अभाव वर्तता है, तब और उतने काल तक सातवें गुणस्थान योग्य निश्चयमोक्षमार्ग होता है।'

[श्री पञ्चास्तिकाय, गाथा 161 टीका तथा फुटनोट]

प्रश्न - द्रव्यलिङ्गी मुनि को मोक्षमार्ग क्यों नहीं है ?

उत्तर - अज्ञानी द्रव्यलिङ्गी मुनि का अन्तरङ्ग लेशमात्र भी समाहित न होने से, अर्थात् उसे (द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत शुद्धात्मस्वरूप के अज्ञान के कारण) शुद्धि का अंश भी परिणमित न होने से, उसे व्यवहारमोक्षमार्ग भी नहीं है, अर्थात् अज्ञानी के नौ पदार्थ का श्रद्धान, अचारादि के ज्ञान तथा षटकाय के जीवों की रक्षारूप चारित्र को व्यवहारमोक्षमार्ग की संज्ञा भी नहीं है। निश्चय के बिना, व्यवहार कैसा ? पहले निश्चय हो तो व्यवहार पर आरोप दिया जाए *[श्री पञ्चास्तिकाय, गाथा 160 के भावार्थ में से]*

प्रश्न - द्रव्यलिङ्गी मुनि के निश्चयरत्नत्रय क्यों प्रगट नहीं होता ?

उत्तर - (1) पहले दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप, रागरहित जाने और उसी समय 'राग, धर्म नहीं हैं या धर्म का साधन नहीं है' - ऐसा माने; ऐसा मानने के बाद जब जीव, राग को तोड़कर अपने

ध्रुवस्वभाव के आश्रय से निर्विकल्प होता है, तब निश्चयमोक्षमार्ग प्रारम्भ होता है और तभी शुभविकल्पों पर व्यवहारमोक्षमार्ग का आरोप आता है।

(2) द्रव्यलिङ्गी तो उपचरितधर्म को ही, निश्चयधर्म मानकर उस ही का निश्चयवत् सेवन करता है; उसका व्यय करके निर्विकल्प नहीं होता। व्यवहार करते-करते, निश्चय कभी प्रगट नहीं होता, किन्तु व्यवहार का व्यय करके, निश्चय कभी प्रगट होता है।

(3) व्यवहार होता परलक्ष्य से है, निश्चय होता स्वाश्रय से है, यह बड़ा अन्तर है। लाईन ही दोनों की भिन्न-भिन्न है। जब भव्य स्वसन्मुखता के बल से स्वरूप की तरफ झुकता है, तब स्वयमेव सम्यग्दर्शनमय, सम्यग्ज्ञानमय तथा सम्यक्चारित्र हो जाता है; इसलिए वह स्वयं से अभेदरूप रत्नत्रय की दशा है और वह यथार्थ वीतरागदशा होने के कारण, निश्चयरत्नत्रयरूप है। इससे यह बात माननी पड़ेगी कि जो व्यवहाररत्नत्रय है, वह यथार्थ रत्नत्रय नहीं है; इसलिए उसे हेय कहा जाता है।

(4) यह साधु, मात्र उसी में ही लगा रहे तो उसका तो वह व्यवहारमार्ग, मिथ्यामार्ग है और निरुपयोगी है। यों कहना चाहिए कि उस साधु ने उसे हेयरूप न जानकर, यथार्थरूप समझ रखा है। जो जिसे यथार्थ जानता और मानता है, वह उसे कादापि नहीं छोड़ता; इसलिए इस साधु का व्यवहारमार्ग, मिथ्यामार्ग है अथवा वह अज्ञानरूप, संसार का कारण है, उसे संसारतत्त्व कहा है।

मुनिव्रत धार अनन्तवार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतम ज्ञान बिना, सुख लेश न पायो॥

(छहढाला, चौथी ढाल)

व्यवहार-निश्चय का सार

(1) निश्चय, स्वद्रव्याश्रित है। जीव के स्वाभाविकभाव का

अवलम्बन लेकर प्रवृत्ति करता है; इसलिए उसके कथन का जैसा का तैसा अर्थ करना ठीक है।

(2) व्यवहार, पर्यायाश्रित तथा परद्रव्याश्रित वर्तता है। जीव के औपाधिकभाव, अपूर्णभाव, परवस्तु अथवा निमित्त का अवलम्बन लेकर वर्तता है; इसलिए उसके कथन के अनुसार अर्थ करना ठीक नहीं है, असत्य है। जैसे—जीव पर्याप्त, जीव अपर्याप्त; जीव सूक्ष्म, जीव बादर; जीव पञ्चेन्द्रिय; जीव रागी आदि यह सब व्यवहार कथन है। जीव, चेतनमय है—पर्याप्त नहीं; जीव, चेतनमय है—अपर्याप्त नहीं; जीव, चेतनमय है—सूक्ष्म-बादर नहीं; जीव चेतनमय है—रागी नहीं; ये निश्चयकथन सत्यार्थ है।

(18) निश्चयनय, स्वाश्रित है; अनेकान्त और व्यवहारनय पराश्रित है—निमित्ताश्रित हैं। उन दोनों को जानकर, निश्चयस्वभाव के आश्रय से पराश्रित व्यवहार का निषेध करना, सो अनेकान्त है; परन्तु— (1) यह कहना कि कभी स्वभाव से धर्म होता है और कभी व्यवहार से भी धर्म होता है, यह अनेकान्त नहीं; प्रत्युत एकान्त है।

(2) स्वभाव से लाभ है और कोई देव, शास्त्र-गुरु भी लाभ करा देते हैं, ऐसा माननेवाला दो तत्त्वों को एक मानता है, अर्थात् एकान्तवादी है।

(3) यद्यपि व्यवहार और निश्चय दोनों नय हैं परन्तु उनमें से एक व्यवहार को मात्र 'है' - ऐसा मानकर, उसका आश्रय छोड़ना और दूसरे निश्चय को आदरणीय मानकर, उसका आश्रय लेना, यह अनेकान्त है।

परिशिष्ट–1

दुःख का मूल : चार प्रकार की इच्छाएँ

प्रश्न 1 – चार प्रकार की इच्छाओं का वर्णन किस शास्त्र से आपने प्रश्नोत्तरों के रूप में संग्रह किया है ?

उत्तर – सत्तास्वरूप से प्रश्नोत्तरों के रूप में संग्रह किया है।

प्रश्न 2 – सत्तास्वरूप से प्रश्नोत्तरों के रूप में क्यों संग्रह किया है ?

उत्तर – अज्ञानी जीव को अपनी भूल का पता लगे तो वह भूलरहित अपने स्वभाव का आश्रय लेकर, भूल का अभाव करके सुखी हो — ऐसी भावना से ही संग्रह किया है।

प्रश्न 3 – इच्छारूप रोग क्या है और कब से है ?

उत्तर – अज्ञान से उत्पन्न होनेवाली इच्छा ही निश्चय से दुःख है, वह तुम्हें बतलाते हैं। यह संसारी जीव, अनादि से अष्ट कर्म के उदय से उत्पन्न हुई जो अवस्था, उसरूप परिणमित होता है। वहाँ भिन्न परद्रव्य, संयोगरूप परद्रव्य, विभावपरिणाम तथा ज्ञेय श्रुतज्ञान के षड्रूप भावपर्याय के धर्म, उनके साथ अहंकार–ममकाररूप कल्पना करके, परद्रव्यों को मिथ्या इष्ट–अनिष्टरूप मानकर, मोह–राग–द्वेष के वशीभूत होकर किसी परद्रव्य को आपरूप मान लेता है। जिसे इष्टरूप मान लेता है, उसे ग्रहण करना चाहता है तथा जिसे पररूप–अनिष्ट मान लेता है, उसे दूर करना चाहता है; इस प्रकार

जीव को अनादि काल से एक इच्छारूप रोग अन्तरङ्ग में शक्तिरूप उत्पन्न हुआ है, उसके चार भेद हैं।

प्रश्न 4 - इच्छा के चार भेद कौन-कौन से हैं ?

उत्तर - (1) मोहइच्छा, (2) कषायइच्छा, (3) भोगइच्छा, और (4) रोगाभावइच्छा।

प्रश्न 5 - क्या चार प्रकार की इच्छा एक ही साथ होती हैं ?

उत्तर - वहाँ इन चार में से एक काल में एक ही की प्रवृत्ति होती है। किसी समय किसी इच्छा की और किसी समय किसी इच्छा की प्रधानता होती रहती है।

प्रश्न 6 - चार प्रकार की इच्छा किसके पायी जाती हैं, किसके नहीं पायी जाती हैं ?

उत्तर - वहाँ मूल तो मिथ्यात्वरूप मोहभाव एक सच्चे जैन बिना, सर्व संसारी जीवों को पाया जाता है।

प्रश्न 7 - मोहइच्छा क्या है ?

उत्तर - प्रथम मोहइच्छा का कार्य इस प्रकार है :- स्वयं तो कर्मजनित पर्यायरूप बना रहता है, उसी में अहंकार करता रहता है कि मैं मनुष्य हूँ, तिर्यञ्च हूँ; इस प्रकार जैसी-जैसी पर्याय होती है, उस-उसरूप ही स्वयं होता हुआ प्रवर्तता है तथा जिस पर्याय में स्वयं उत्पन्न होता है, उस सम्बन्धी संयोगरूप व भिन्नरूप परद्रव्य जो हस्तादि अङ्गरूप व धन, कुटुम्ब, मन्दिर, ग्राम आदि को अपना मानकर उनको उत्पन्न करने के लिए व सम्बन्ध सदा बना रहे, उसके लिये उपाय करना चाहता है तथा सम्बन्ध हो जाने पर सुखी होना, मग्न होना व उनके वियोग में दुःखी होना, शोक करना अथवा ऐसा विचार आए कि मेरे आगे-पीछे नहीं — इत्यादिरूप आकुलता का होना, उसका नाम मोहइच्छा है।

प्रश्न 8 - क्रोध क्या है ?

उत्तर - किसी परद्रव्य को अनिष्ट मानकर, उसे अन्यथा परिणमन कराने की, उसे बिगाड़ने की व सत्ता नाश कर देने की इच्छा, वह क्रोध है।

प्रश्न 9 - मान क्या है ?

उत्तर - किसी परद्रव्य का उच्चपना न सुहाये व अपना उच्चपना प्रगट होने के अर्थ, परद्रव्य से द्वेष करके, उसे अन्यथा परिणमन कराने की इच्छा हो, उसका नाम मान है।

प्रश्न 10 - माया क्या है ?

उत्तर - किसी परद्रव्य को इष्ट मानकर, उसे प्राप्त करने के लिए व सम्बन्ध बनाए रखने के लिए व उसका विघ्न दूर करने के लिए जो छल-कपटरूप गुप्त कार्य करने के इच्छा का होना, उसे माया कहते हैं।

प्रश्न 11 - लोभ क्या है ?

उत्तर - अन्य किसी परद्रव्य को इष्ट मानकर, उससे सम्बन्ध मिलाने व सम्बन्ध रखने की इच्छा होना, सो लाभ है।

प्रश्न 12 - कषायइच्छा क्या है ?

उत्तर - इस प्रकार उन चार प्रकार की प्रवृत्ति का नाम कषाय इच्छा है।

प्रश्न 13 - भोगइच्छा क्या है ?

उत्तर - पाँच इन्द्रियों को प्रिय लगनेवाले जो परद्रव्य, उनको रतिरूप भोगने की इच्छा का होना, उसका नाम भोगइच्छा है।

प्रश्न 14 - रोगाभावइच्छा क्या है ?

उत्तर - क्षुधा-तृषा, शीत-उष्णादि व कामविकार आदि को

मिटाने के लिये अन्य परद्रव्यों के सम्बन्ध की इच्छा होना, उसका नाम रोगाभावइच्छा है।

प्रश्न 15 – जब मोहइच्छा की प्रबलता हो, तब बाकी इच्छाओं का क्या होता है?

उत्तर – इस प्रकार चार प्रकार की इच्छा है, उनमें से किसी एक ही इच्छा की प्रबलता रहती है तथा शेष तीन इच्छाओं की गौणता रहती है।

प्रश्न 16 – जब मोहइच्छा हो, तब कषाय इच्छा का क्या होता है?

उत्तर – जैसे–मोहइच्छा प्रबल हो तो तब पुत्रादिक के लिये परदेश जाता है, वहाँ भूख–तृषा, शीत–उष्णतादि का दु:ख सहन करता है, स्वयं भूखा रहता है और अपना मान–मद खोकर भी कार्य करता है, अपना अपमानादिक करवाता है, छलादिक करता है तथा धनादिक खर्च करता है; इस प्रकार मोहइच्छा प्रबल रहने पर कषाय–इच्छा गौण रहती है।

प्रश्न 17 – जब मोहइच्छा प्रबल हो तब भोगइच्छा का क्या होता है?

उत्तर – अपने हिस्से का भोजन, वस्त्रादि, पुत्रादि, कुटुम्बियों को अच्छे–अच्छे लाकर देता है, अपने को रूखा–सूखा–बासी खाने को मिले तो भी प्रसन्न रहता है। जिस–तिस प्रकार अपने भी भागों को जबरदस्ती देकर, उनको प्रसन्न रखना चाहता है, इस प्रकार भोग–इच्छा की भी गौणता रहती।

प्रश्न 18 – जब मोहइच्छा प्रबल हो तब रोगाभावइच्छा का क्या होता है?

उत्तर – अपने शरीरादि में रोगादि कष्ट आने पर भी, पुत्रादि के

लिए परदेश जाता है। वहाँ क्षुधा-तृषा, शीत-उष्णादि की अनेक बाधाएँ सहन करता है। स्वयं भूखा रहकर भी उनको भोजनादि खिलाता है। स्वयं शीतकाल में भीगे तथा कठोर बिस्तर पर सोकर भी, उनको सूखे तथा कोमल बिस्तरों पर सुलाता है; इस प्रकार रोगाभाव -इच्छा गौण रहती है। इस प्रकार मोहइच्छा की प्रबलता रहती है।

प्रश्न 19 - जब कषायइच्छा प्रबल हो, तब मोहइच्छा का क्या होता है?

उत्तर - कषायइच्छा की प्रबलता होने पर पितादि, गुरुजनों को मारने लग जाता है, कुवचन कहता है, नीचे गिरा देता है, पुत्रादि को मारता, लड़ता है, बेच देता है, अपमानादि करता है, अपने शरीर को भी कष्ट देकर धनादि का संग्रह करता है तथा कषाय के वशीभूत होकर प्राण तक भी दे देता है — इत्यादि इस प्रकार कषायइच्छा प्रबल होने पर मोहइच्छा गौण हो जाती है।

प्रश्न 20 - क्रोध-कषाय होने पर क्या होता है?

उत्तर - क्रोध-कषाय प्रबल होने पर अच्छा भोजनादि नहीं खाता, वस्त्राभरणादि नहीं पहिनता है, सुगन्ध आदि नहीं सूँघता, सुन्दर वर्णादि नहीं देखता, सुरीला राग-रागणी आदि नहीं सुनता, इत्यादि विषय-सामग्री को बिगाड़ देता है, नष्ट कर देता है, अन्य का घात कर देता है तथा नहीं बोलनेयोग्य निंद्य वाक्य बोल देता है — इत्यादि कार्य करता है।

प्रश्न 21 - मान-कषाय होने पर क्या होता है?

उत्तर - मान-कषाय तीव्र होने पर स्वयं उच्च होने का, दूसरों को नीचा दिखाने का सदा उपाय करता रहता है। स्वयं अच्छा भोजन लेने पर, सुन्दर वस्त्र पहिनने पर, सुगन्ध सूँघने पर, अच्छा वर्ण देखने पर, मधुर राग सुनने पर, अपने उपयोग को उसमें नहीं

लगाता, उसका कभी चिन्तवन नहीं करता तथा अपने को वे चीजें कभी प्रिय नहीं लगती; मात्र विवाहादि अवसरों के समय अपने को ऊँचा रखने के लिए अनेक उपाय करता है।

प्रश्न 22 - लोभ-कषाय होने पर क्या होता है ?

उत्तर - लोभ-कषाय तीव्र होने पर अच्छा भोजन नहीं खाता है, अच्छे वस्त्रादि नहीं पहिनता, सुगन्ध विलेपनादि नहीं लगाता, सुन्दर रूप को नहीं देखता तथा अच्छा राग नहीं सुनता; मात्र धनादि सामग्री उत्पन्न करने की बुद्धि रहती है। कंजूस जैसा स्वभाव होता है।

प्रश्न 23 - माया-कषाय होने पर क्या होता है ?

उत्तर - माया-कषाय तीव्र होने पर अच्छा नहीं खाता, वस्त्रादि अच्छे नहीं पहिनता, सुगन्धित वस्तुओं को नहीं सूँघता, रूपादिक नहीं देखता, सुन्दर रागादिक नहीं सुनता; मात्र अनेक प्रकार के छल-कपटादि मायाचार का व्यवहार करके, दूसरों को ठगने का कार्य किया करता है।

प्रश्न 24 - क्रोधादि कषायइच्छा प्रबल होने पर, भोगइच्छा और रोगाभावइच्छा का क्या होता है ?

उत्तर - इत्यादि प्रकार से क्रोध-मान-लोभ-माया कषाय की प्रबलता होने पर भोगइच्छा गौण हो जाती है तथा रोगाभावइच्छा मन्द हो जाती है।

प्रश्न 25 - जब भोगइच्छा प्रबल हो, तब मोहइच्छा का क्या होता है ?

उत्तर - जब भोगइच्छा प्रबल हो जाती है, तब अपने पिता आदि को अच्छा नहीं खिलाता, सुन्दर वस्त्रादि नहीं पहिनाता इत्यादि। स्वयं ही अच्छी-अच्छी मिठाइयाँ आदि खाने की इच्छा करता है,

खाता है, सुन्दर पतले बहुमूल्य वस्त्रादि पहिनता है और घर के कुटुम्बी आदि भूखे मरते रहते हैं; इस प्रकार भोगइच्छा होने पर मोहइच्छा गौण हो जाती है।

प्रश्न 26 - जब भोगइच्छा प्रबल हो, तब कषायइच्छा का क्या होता है ?

उत्तर - अच्छा खाने, पहिनने, सूँघने, देखने, सुनने की इच्छा करता है। वहाँ कोई बुरा कहे तो भी क्रोध नहीं करता; अपना मानादि न करे तो भी क्रोध नहीं करता; अपना मानादि न करे तो भी नहीं गिनता; अनेक प्रकार की मायाचारी करके भी दु:खों को भोगकर कार्य सिद्ध करना चाहता है तथा भोगइच्छा की प्राप्ति के लिए धनादि भी खर्च करता है; इस प्रकार भोगइच्छा प्रबल होने पर कषाय-इच्छा गौण हो जाती है।

प्रश्न 27 - जब भोगइच्छा प्रबल हो, तब रोगाभावइच्छा का क्या होता है ?

उत्तर - अच्छा खाना, पहिनना, सूँघना, देखना, सुनना आदि कार्य होने पर भी, रोगादि का होना तथा भूख-प्यासादि कार्य प्रत्यक्ष उत्पन्न होते जानकर भी, उस विषय-सामग्री से अरुचि नहीं होती; जिस प्रकार स्पर्शनइन्द्रिय की प्रबल इच्छा के वश होकर हाथी गड्डे में गिरता है; रसनाइन्द्रिय के वश में होकर मछली जाल मे फँस मरती है; घ्राणइन्द्रिय के वश में होकर भ्रमर, कमल में जीवन दे देता है; मृग, कर्णइन्द्रिय के वश में होकर शिकारी की गोली से मरता है तथा नेत्रइन्द्रिय के वश में होकर पतंगा, दीपक में प्राण दे देता है; इस प्रकार भोगइच्छा के प्रबल होने पर रोगाभावइच्छा गौण हो जाती हैं।

प्रश्न 28 - जब रोगाभावइच्छा प्रबल हो, तब मोह-इच्छा का क्या होता है ?

उत्तर - जब रोगाभावइच्छा प्रबल रहती है, तब कुटुम्बादि को छोड़ देता है; मन्दिर, मकान, पुत्रादि को भी बेच देता है —इत्यादि। रोग की तीव्रता होने पर, मोह पैदा होने से कुटुम्बादि सम्बन्धियों से भी मोह का सम्बन्ध छूट जाता है तथा अन्यथा परिणमन करता है। इस प्रकार रोगाभावइच्छा प्रबल होने पर, मोह-इच्छा गौण हो जाती है।

प्रश्न 29 - जब रोगाभावइच्छा प्रबल हो, तब कषाय-इच्छा का क्या होता है?

उत्तर - कोई बुरा कहे तथा अपमानादि करे, तब भी अनेक छल-पाखण्ड कर व धनखर्च करके भी, अपने रोग को मिटाना चाहता है; इस प्रकार रोगाभावइच्छा के प्रबल होने पर, कषायइच्छा गौण हो जाती है।

प्रश्न 30 - जब रोगाभावइच्छा प्रबल हो, तब भोगइच्छा का क्या होता है?

उत्तर - भूख-तृषा, शीत-गर्मी लगे व पीड़ा इत्यादि रोग उत्पन्न हो जाए तब अच्छा-बुरा, मीठा-खारा और खाद्य-अखाद्य का भी विचार नहीं करता; खराब अखाद्य वस्तु को खाकर भी रोग मिटाना चाहता है; जैसे, पत्थर व वाड के काँटादि खाकर भी भूख मिटाना चाहता है; इस प्रकार रोगाभावइच्छा होने पर भोगइच्छा गौण हो जाती है।

प्रश्न 31 - अज्ञानी के इच्छा नामक रोग सदा क्यों बना रहता है?

उत्तर - एक काल में एक इच्छा की मुख्यता रहती है और अन्य इच्छा की गौणता हो जाती है, परन्तु मूल में इच्छा नामक रोग सदा बना रहता है।

प्रश्न 32 - जीव, संसार में दुःखी होता हुआ क्यों भ्रमण करता है?

उत्तर - जिनको नवीन-नवीन विषयों की इच्छा है, उन्हें दुःख स्वभाव ही से होता है। यदि दुःख मिट गया हो तो वह नवीन विषयों के लिए व्यापार किसलिये करें ? यही बात श्री प्रवचनसार, गाथा 64 में कहा है कि :-

जेसिं विसएसु रदी तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं।
जइ तं ण हि सब्भावं वावारो णत्थि विसयथं॥64॥

येषां विषयेषु रतिस्तेषां दुःखं विजानीहि स्वाभावाम्।
यदि तन्न हि स्वभावो व्यापारो नास्ति विषयार्थम्॥64॥

अन्वयार्थ :- [**येषां**] जिन्हें [**विषयेषु रतिः**] विषयों में रति है, [**तेषां**] उन्हें [**दुःखं**] दुःख [**स्वाभावं**] स्वाभाविक [**विजानीहि**] जानो; [**हि**] क्योंकि [**यदि**] यदि [**तद्**] वह दुःख [**स्वभावं न**] स्वभाव न हो तो [**विषयार्थं**] विषयार्थ में [**व्यापारः**] व्यापार [**न अस्ति**] न हो।

भावार्थ :- जिस प्रकार रोगी को एक औषधि के खाने से आराम हो जाता है तो वह दूसरी औषधि का सेवन किसलिए करे ? उसी प्रकार एक विषय सामग्री के प्राप्त होने पर ही दुःख मिट जाये तो वह दूसरी विषय सामग्री किसलिए चाहे ? क्योंकि इच्छा तो रोग है और इच्छा मिटाने का इलाज विषय सामग्री है। अब, एक प्रकार की विषय सामग्री की प्राप्ति से एक प्रकार की इच्छा रुक जाती है, परन्तु तृष्णा / इच्छा नामक रोग तो अन्तर में से नहीं मिटता है; इसलिए दूसरी अन्य प्रकार की इच्छा और उत्पन्न हो जाती है; इस प्रकार सामग्री मिलाते-मिलाते आयु पूर्ण हो जाती है और इच्छा तो बराबर तब तक निरन्तर बनी रहती है। उसके बाद अन्य पर्याय प्राप्त करते हैं, तब उस पर्यायसम्बन्धी वहाँ के कार्यों की नवीन इच्छा उत्पन्न होती है; इस प्रकार संसार में दुःखी होता हुआ भ्रमण करता है।

प्रश्न 33 - दु:ख का मूलकारण कौन है ?

उत्तर - अनिष्ट सामग्री के संयोग के कारण को और इष्ट सामग्री के वियोग के कारणों को विघ्न मानते हो, परन्तु आपने कुछ विचार भी किया है ? यदि यही विघ्न हो तो मुनि आदि त्यागी तपस्वी तो इन कार्यों को अङ्गीकार करते हैं; इसलिए विघ्न का मूलकारण, अज्ञान-रागदि है; इस प्रकार दु:ख व विघ्न का स्वरूप जानो।

प्रश्न 34 - इच्छा के अभाव का क्या उपाय है ?

उत्तर - उसका उपाय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

प्रश्न 35 - आपने इच्छा के अभाव का उपाय सम्यग्दर्शनादि बताया है, उसकी प्राप्ति कैसे हो ?

उत्तर - (1) केवलज्ञानी के केवलज्ञान को मानने से इच्छा का अभाव होकर सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति होती है। (2) निज आत्मा से परद्रव्यों का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है — ऐसा मानने से इच्छा का अभाव होकर सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति होती है। (3) जैसा वस्तु स्वरूप है, वैसा माने-जाने तो इच्छा का अभाव होकर सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति होती है। (4) मुझ आत्मा, ज्ञायक और लोकालोक व्यवहार से ज्ञेय है — ऐसा मानने से इच्छा का अभाव होकर सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति होती है। (5) पदार्थ, इष्ट-अनिष्ट भासित होने से क्रोधादि कषायें होती हैं, जब तत्त्वज्ञान के अभ्यास से कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित न हो, तब चारों प्रकार की इच्छा का अभाव होकर स्वयंमेव ही धर्म की प्राप्ति हो जाती है। ●●

परिशिष्ट-2

श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव रचित

द्रव्यसंग्रह प्रश्नोत्तरी

(गाथा 1 से 14 तक)

प्रश्न 1 - द्रव्यसंग्रह में कितनी गाथाएँ और कितने अधिकार हैं ?

उत्तर - अट्ठावन गाथाएँ हैं और इन गाथाओं को तीन अधिकारों में बाँटा गया है।

प्रश्न 2 - प्रथम अधिकार में क्या बताया है ?

उत्तर - प्रथम अधिकार में सत्ताईस गाथाएँ हैं और इसमें छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय का प्रतिपादन है।

प्रश्न 3 - दूसरे अधिकार में क्या बताया है ?

उत्तर - दूसरे अधिकार में ग्यारह गाथाएँ हैं और इसमें सात तत्त्व, नव पदार्थों का प्रतिपादन हैं।

प्रश्न 4 - तीसरे अधिकार में क्या बताया है ?

उत्तर - तीसरे अधिकार में 20 गाथाएँ हैं और इनमें मोक्षमार्ग का प्रतिपादन है।

जीवमजीवं दव्वं जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं।
देविंद-विंद-वंदं वंदे तं सव्वदा सिरसा ॥1॥

गाथार्थ :- मैं (नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव), जिस जिनवरवृषभ

ने जीव और अजीवद्रव्य का वर्णन किया है, उस देवेन्द्रों के समूह से वंद्य, तीर्थङ्कर-परमदेव को सदा मस्तक द्वारा नमस्कार करता हूँ।

प्रश्न 5- जिन किसे कहते हैं और जिन में कौन आते हैं?

उत्तर - निज शुद्धात्मद्रव्य के आश्रय से मिथ्यात्व-राग-द्वेषादि को जीतनेवाली निर्मलपरिणति जिसने प्रगट की है, वही जैन है। मिथ्यात्व के नाशपूर्वक जितने अंश में जो रागादि का नाश करता है, उतने अंश में वह जैन है। वास्तव में जैनत्व का प्रारम्भ निश्चयसम्यग्दर्शन से ही होता है, जो चतुर्थ गुणस्थान में प्रगट होता है। (3) असंयत सम्यग्दृष्टि, देशविरतश्रावक और भावलिङ्गी मुनि जिन में आते हैं।

प्रश्न 6 - जिनवर किसे कहते हैं और जिनवर में विशेषरूप से कौन आते हैं?

उत्तर - जो जिनों में श्रेष्ठ होते हैं, वे जिनवर हैं और विशेषरूप से श्री गणधरदेव, जिनवर में आते हैं।

प्रश्न 7 - जिनवरवृषभ किसे कहते हैं और जिनवरवृषभ में कौन-कौन आते हैं।

उत्तर - जो जिनवरों में भी श्रेष्ठ होते हैं, वे जिनवरवृषभ हैं। प्रत्येक तीर्थङ्कर भगवान, जिनवरवृषभ में आ जाते हैं।

प्रश्न 8 - ग्रन्थकर्ता ने विशेषरूप से मङ्गलाचरण में किसको याद किया है?

उत्तर - यहाँ ग्रन्थकर्ता ने मङ्गलाचरण में प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव को याद किया है।

प्रश्न 9 - जिन-जिनवर-जिनवर वृषभों ने किसका वर्णन किया है?

उत्तर - जीव और अजीवद्रव्यों का वर्णन किया है।

प्रश्न 10 - विश्व किसे कहते हैं ?

उत्तर - जाति अपेक्षा छह द्रव्यों के समूह और संख्या अपेक्षा अनन्त द्रव्य को विश्व कहते हैं।

प्रश्न 11 - विश्व को जानने के कितने लाभ हैं ?

उत्तर - अनेक लाभ हैं, परन्तु मुख्य लाभ सात हैं। इनका स्पष्टीकरण जैन सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला, के विश्व नामक प्रकरण में देखें।

प्रश्न 12 - द्रव्य किसे कहते हैं ?

उत्तर - गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं।

प्रश्न 13 - द्रव्य को जानने के कितने लाभ हैं ?

उत्तर - अनेक लाभ हैं, परन्तु मुख्य लाभ सात हैं। इनका स्पष्टीकरण जैन सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला, के द्रव्य नामक प्रकरण में देखें।

प्रश्न 14 - गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो द्रव्य के सम्पूर्ण भाग और उसकी समस्त अवस्थाओं में रहता है, उसको गुण कहते हैं।

प्रश्न 15 - गुण को जानने के कितने लाभ हैं ?

उत्तर - अनेक लाभ हैं, परन्तु मुख्य लाभ छह हैं। इनका स्पष्टीकरण जैन सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला, के गुण नामक प्रकरण में देखें।

प्रश्न 16 - द्रव्य कितने हैं ?

उत्तर - दो द्रव्य हैं, जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य।

प्रश्न 17 - जीवद्रव्य किसे कहते हैं और वे कितने हैं ?

उत्तर - जिसमें सहज शुद्ध चैतन्यपना पाया जावे, वे जीवद्रव्य हैं और वे जीवद्रव्य निगोद से लगाकर सिद्ध भगवान तक अनन्त हैं।

प्रश्न 18 - अजीवद्रव्य किसे कहते हैं और वे कितने हैं?

उत्तर - जिनमें ज्ञान-दर्शन न पाया जावे, उसे अजीवद्रव्य कहते हैं और अजीवद्रव्य जाति अपेक्षा पाँच हैं और संख्या अपेक्षा— पुद्‌गल अनन्तानन्त, धर्म-अधर्म-आकाश एक-एक और लोकप्रमाण असंख्यात कालद्रव्य; — इस प्रकार अनन्तानन्त हैं।

प्रश्न 19 - जीवद्रव्य और जीवतत्त्व में क्या अन्तर हैं?

उत्तर - (1) जीवद्रव्य में निगोद से लगाकर सिद्ध भगवान तक सब जीव आ जाते हैं और जीवतत्त्व में, जिसमें मेरा ज्ञान-दर्शन पाया जावे, वह एक ही जीव (निज आत्मा) आता है।

प्रश्न 20 - जीवतत्त्व किसे कहते हैं?

उत्तर - जिसमें निज सहज शुद्ध चैतन्यपना पाया जावे — यह जीवतत्त्व है।

प्रश्न 21 - अजीवतत्त्व किसे कहते हैं और अजीवतत्त्व में कौन-कौन आते हैं?

उत्तर - (1) जिनमें मेरा ज्ञान-दर्शन न पाया जावे, वे अजीवतत्त्व हैं। मुझ निज आत्मा के अलावा, विश्व के अनन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्‌गल, धर्म-अधर्म-आकाश एक-एक और लोकप्रमाण असंख्यात कालद्रव्य; ये सब अजीवतत्त्व में आते हैं।

प्रश्न 22 - अजीवद्रव्य और अजीवतत्त्व में क्या अन्तर है?

उत्तर - अजीवद्रव्य में अनन्तानन्त पुद्‌गल, धर्म-अधर्म-आकाश एक-एक और लोकप्रमाण असंख्यात कालद्रव्य आते हैं और अजीवतत्त्व में इन सब द्रव्यों के साथ, मुझ निज आत्मा के अलावा, विश्व के समस्त जीवद्रव्य भी आ जाते हैं।

प्रश्न 23 - जीवतत्त्व और अजीवतत्त्व प्रयोजनभूत किस प्रकार हैं ?

उत्तर - (1) निज जीवतत्त्व एकमात्र आश्रय करने योग्य प्रयोजनभूत तत्त्व है। (2) अजीवतत्त्व एकमात्र जाननेयोग्य प्रयोजनभूत तत्त्व हैं।

प्रश्न 24 - निज जीवतत्त्व का आश्रय लेने से और अजीवतत्त्व को जाननेयोग्य मानने से क्या लाभ होता है ?

उत्तर - दुःख का अभाव और सुख की प्राप्ति होती है, अर्थात् आस्रव-बन्ध का अभाव प्रारम्भ हो जाता है; संवर-निर्जरा की प्राप्ति होकर क्रम से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

प्रश्न 25 - प्रत्येक जीव की सत्ता कितनी है ?

उत्तर - अस्तित्वादि अनन्त सामान्यगुण और ज्ञान-दर्शनादि अनन्त विशेषगुण; एक व्यंजनपर्याय और अनन्त अर्थपर्यायसहित प्रत्येक जीव की सत्ता है।

प्रश्न 26 - प्रत्येक पुद्गल की सत्ता कितनी-कितनी हैं ?

उत्तर - अस्तित्वादि अनन्त सामान्यगुण और स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णादि अनन्त विशेषगुण; एक व्यंजनपर्याय और अनन्त अर्थपर्यायसहित प्रत्येक परमाणु (पुद्गल) की सत्ता है।

प्रश्न 27 - धर्मद्रव्य की सत्ता कितनी हैं ?

उत्तर - अस्तित्वादि अनन्त सामान्यगुण और गति हेतुत्वादि अनन्त विशेषगुण; एक स्वभाव व्यंजनपर्याय और अनन्त स्वभावअर्थपर्यायसहित धर्मद्रव्य की सत्ता है।

प्रश्न 28 - अधर्मद्रव्य की सत्ता कितनी है ?

उत्तर - अस्तित्वादि अनन्त सामान्यगुण और स्थितिहेतुत्वादि

अनन्त विशेषगुण; एक स्वभावव्यंजनपर्याय और अनन्त स्वभावअर्थ-पर्यायसहित अधर्मद्रव्य की सत्ता है।

प्रश्न 29 - आकाशद्रव्य की सत्ता कितनी हैं ?

उत्तर - अस्तित्वादि अनन्त सामान्यगुण और अवगाहनहेतुत्वादि अनन्त विशेषगुण; एक स्वभावव्यंजनपर्याय और अनन्त स्वभावअर्थपर्यायसहित आकाशद्रव्य की सत्ता है।

प्रश्न 30 - प्रत्येक कालाणु की सत्ता कितनी है ?

उत्तर - अस्तित्वादि अनन्त सामान्यगुण और परिणमनहेतुत्वादि अनन्त विशेषगुण; एक स्वभावव्यंजनपर्याय और अनन्त स्वभावअर्थपर्यायसहित प्रत्येक कालाणु की सत्ता है।

प्रश्न 31 - जीव, दु:खी क्यों है ?

उत्तर - (1) जीव-अजीव का यथार्थ ज्ञान न होने से ही संसारी मिथ्यादृष्टियों को स्व-पर का विवेक नहीं हो पाता है। (2) स्व-पर का विवेक न होने से वे आत्मस्वरूप की प्राप्ति से वंचित रहने के कारण दु:खी ही है।

प्रश्न 32 - दु:ख दूर करने के लिये संसारी जीवों को क्या करना चाहिए ?

उत्तर - उन्हें स्व-पर यथार्थ विवेक प्रगट करने के लिये जीव-अजीव का यथार्थ ज्ञान करना चाहिए।

प्रश्न 33 - भावनमस्कार क्या है ?

उत्तर - निज शुद्ध आत्मा की आराधना, भावनमस्कार है और भावनमस्कार ही जिनेन्द्रभगवान की निश्चयस्तुति, वन्दना, प्रणाम्, नमस्कार है।

प्रश्न 34 - नमस्कार कितने हैं ?

उत्तर - पाँच हैं - (1) शक्तिरूप नमस्कार, (2) एकदेश

भावनमस्कार, (3) द्रव्यनमस्कार, (4) जड़नमस्कार, (5) पूर्ण भावनमस्कार।

प्रश्न 35 – इन पाँच नमस्कार को संक्षिप्त में समझाइये ?

उत्तर – (1) शक्तिरूप नमस्कार के आश्रय से ही एकदेश भावनमस्कार प्रगट होता है। (2) एकदेश भावनमस्कार के साथ अपनी-अपनी भूमिकानुसार साधक धर्मी जीव को जो राग है, वह द्रव्यनमस्कार पुण्यबन्ध का कारण है। (3) द्रव्यनमस्कार के साथ शरीरदि की क्रियाओं को जड़नमस्कार व्यवहार का व्यवहार कहा जाता है। (4) शक्तिरूप नमस्कार का परिपूर्ण आश्रय लेने से नमस्कार का फल पूर्ण भावनमस्कार प्रगट होता है।

प्रश्न 36 – द्रव्यनमस्कार कौन से गुणस्थान तक होता है ?

उत्तर – चौथे गुणस्थान से लेकर छठवें गुणस्थान तक होता है।

प्रश्न 37 – जिनेन्द्रभगवान को कौन नमस्कार कर सकता है ?

उत्तर – साधक धर्मी जीव ही नमस्कार कर सकता है; अज्ञानी मिथ्यादृष्टि, भगवान को नमस्कार नहीं कर सकता है क्योंकि अज्ञानी को भावनमस्कार की प्राप्ति नहीं है।

जीवद्रव्य के नौ अधिकार

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥2॥

गाथार्थ :- जो जीता है, उपयोगमय है, अमूर्तिक है, कर्ता है, स्वदेहप्रमाण है, भोक्ता है, संसारस्थ है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करनेवाला है; वह जीव है।

प्रश्न 38 - इन नौ अधिकारों का मर्म जानने के लिए क्या जानना आवश्यक है ?

उत्तर - नयसम्बन्धी ज्ञान का होना आवश्यक है, क्योंकि नय-ज्ञान हुए बिना नव अधिकारों का मर्म समझ में नहीं आ सकता है।

प्रश्न 39 - प्रमाणज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर - प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेषात्मक होती है, इसी वस्तु के सच्चे ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।

प्रश्न 40 - नय किसे कहते हैं ?

उत्तर - प्रमाण द्वारा निश्चित हुई अनन्त धर्मात्मक वस्तु के एक-एक अङ्ग का ज्ञान मुख्यरूप से कराये, उसे नय कहते हैं।

प्रश्न 41 - नय का तात्पर्य क्या है ?

उत्तर - वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। वस्तु में किसी धर्म की मुख्यता करके अविरोधरूप से साध्य पदार्थ को जानना ही नय का तात्पर्य है।

प्रश्न 42 - नय किसे होते हैं और किसे नहीं होते हैं ?

उत्तर - साधक सम्यग्दृष्टि को नय होते हैं; मिथ्यादृष्टि और केवली को नय नहीं होते हैं।

प्रश्न 43 - सम्यग्दृष्टि को ही नय क्यों होते हैं।

उत्तर - सम्यग्दृष्टि के सम्यक्श्रुतज्ञान प्रमाण प्रगट होने से उसके नय होते हैं।

प्रश्न 44 - मिथ्यादृष्टि को नय क्यों नहीं होते हैं।

उत्तर - मिथ्यादृष्टि का श्रुतज्ञान, मिथ्या होने से उसके नय नहीं होते हैं।

प्रश्न 45 - क्या पहले व्यवहारनय होता है ?

उत्तर - नहीं होता है, क्योंकि 'निरपेक्षा नया: मिथ्या:-सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत:' निश्चयनय की अपेक्षा ही व्यवहारनय होता है; केवल व्यवहार पक्ष ही मोक्षमार्ग में नहीं है।

प्रश्न 46 - जिनभगवन्तों की वाणी की पद्धति क्या है ?

उत्तर - दो नयों के आश्रय से सर्वस्व कहने की पद्धति है।

प्रश्न 47 - नय के कितने भेद हैं ?

उत्तर - दो भेद हैं, निश्चयनय और व्यवहारनय।

प्रश्न 48 - निश्चय-व्यवहार का लक्षण क्या है ?

उत्तर - (1) यथार्थ का नाम निश्चय है। (2) उपचार का नाम व्यवहार है।

प्रश्न 49 - यथार्थ का नाम निश्चय और उपचार का नाम व्यवहार को किस-किस प्रकार जानना चाहिए ?

उत्तर - (1) जहाँ अखण्ड त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव को यथार्थ का नाम निश्चय कहा हो; वहाँ उसकी अपेक्षा निर्मलपर्याय को उपचार का नाम व्यवहार कहा जाता है।

(2) जहाँ निर्मल शुद्धपरिणति को यथार्थ का नाम निश्चय कहा हो; वहाँ उसकी अपेक्षा भूमिकानुसार शुभभावों को उपचार का नाम व्यवहार कहा जाना है।

(3) जहाँ जीव के विकारीभावों को यथार्थ का नाम निश्चय कहा हो; वहाँ उसकी अपेक्षा द्रव्यकर्म-नोकर्म को उपचार का नाम व्यवहार कहा जाता है।

प्रश्न 50 - (1) अखण्ड त्रिकाली स्वभाव, (2) निर्मल

शुद्धपरिणति, (3) जीव के विकारीभावों को यथार्थ का नाम निश्चय क्यों कहा है ?

उत्तर - (1) एकमात्र आश्रय करने योग्य की अपेक्षा से अखण्ड त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव को यथार्थ का नाम निश्चय कहा है, क्योंकि इसी के आश्रय से ही धर्म की प्राप्ति-वृद्धि और पूर्णता होती है। (2)प्रगट करने योग्य की अपेक्षा से निर्मल शुद्धपरिणति को यथार्थ का नाम निश्चय कहा है। (3)पर्याय में दोष अपने अपराध से है; द्रव्यकर्म-नोकर्म के कारण नहीं है —इसका ज्ञान कराने के लिए विकारीभावों को यथार्थ का नाम निश्चय कहा है।

प्रश्न 51 - (1) निर्मल शुद्धपरिणति; (2) भूमिका अनुसार शुभभावों, और (3) द्रव्यकर्म-नोकर्म को उपचार का नाम व्यवहार क्यों कहा है ?

उत्तर - (1) अनादि-अनन्त नहीं होने की अपेक्षा से तथा आश्रय करने योग्य न होने की अपेक्षा से निर्मल शुद्धपरिणति को उपचार का नाम व्यवहार कहा है। (2) मोक्षमार्ग में शुद्ध अंश के साथ किस-किस प्रकार का राग होता है और किस-किस प्रकार का राग नहीं होता है। —यह ज्ञान कराने के लिए भूमिका अनुसार शुभभावों को उपचार का नाम व्यवहार कहा है। (3) जब-जब पर्याय में विभावभाव उत्पन्न होते हैं, तब-तब द्रव्यकर्म-नोकर्म का निमित्त होता है - इस अपेक्षा द्रव्यकर्म-नोकर्म को उपचार का नाम व्यवहार कहा है।

प्रश्न 52 - निश्चयनय किसे कहते हैं ?

उत्तर - वस्तु के किसी असली (मूल) अंश को ग्रहण करनेवाले ज्ञान को निश्चयनय कहते हैं — जैसे, मिट्टी के घड़े को मिट्टी का घड़ा कहना।

प्रश्न 53 - व्यवहारनय किसको कहते हैं ?

उत्तर - किसी निमित्तकारण से एक पदार्थ को दूसरे पदार्थरूप जाननेवाले ज्ञान को व्यवहारनय कहते हैं— जैसे, मिट्टी के घड़े को, घी रहने के निमित्त से, घी का घड़ा कहना।

प्रश्न 54 - व्यवहारनय के कितने भेद हैं ?

उत्तर - दो भेद हैं — सद्भूतव्यवहारनय और असद्भूत-व्यवहारनय।

प्रश्न 55 - सद्भूतव्यवहारनय किसको कहते हैं ?

उत्तर - जो एक पदार्थ में गुण-गुणी को भेदरूप ग्रहण करे, उसे सद्भूतव्यवहारनय कहते हैं।

प्रश्न 56 - सद्भूतव्यवहारनय के कितने भेद हैं ?

उत्तर - दो भेद हैं — उपचरितसद्भूतव्यवहारनय, और अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय।

प्रश्न 57 - उपचरितसद्भूतव्यवहारनय किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो उपाधिसहित गुण-गुणी को भेदरूप से ग्रहण करे, उसे उपचरित सद्भूत व्यवहारनय कहते हैं —जैसे, संसारी जीव के मतिज्ञानादि पर्याय और नर-नारकादि पर्यायें।

प्रश्न 58 - अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो नय, निरुपाधिक गुण-गुणी को भेदरूप ग्रहण करे, उसे अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय कहते हैं — जैसे, जीव के केवलज्ञान-केवलदर्शन।

प्रश्न 59 - असद्भूतव्यवहारनय किसे कहते हैं ?

उत्तर - जो मिले हुए भिन्न पदार्थों को अभेदरुप से कथन करे,

उसे असद्भूतव्यवहारनय कहते हैं —जैसे, यह शरीर मेरा है।

प्रश्न 60 - असद्भूतव्यवहारनय के कितने भेद हैं?

उत्तर - दो भेद हैं। उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय, और अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय।

प्रश्न 61 - उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय किसे कहते हैं?

उत्तर - अत्यन्त भिन्न पदार्थों को जो अभेदरुप से ग्रहण करे, उसे उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय कहते हैं — जैसे, जीव के महल-घोड़ा-वस्त्रादि।

प्रश्न 62 - अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय किसे कहते हैं?

उत्तर - जो नय, संयोगसम्बन्ध से युक्त दो पदार्थों के सम्बन्ध को विषय बनावे, उसे अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय कहते हैं। जैसे -जीव का शरीर, जीव का कर्म कहना।

प्रश्न 63 - चार प्रकार का अध्यात्म व्यवहार किस प्रकार हैं?

उत्तर - (1) उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय :- साधक ऐसा जानता है कि मेरी पर्याय में विकार होता है। उसमें जो व्यक्त/बुद्धिपूर्वक राग प्रगट ख्याल में लिया जा सकता है - ऐसे राग को आत्मा का कहना। **(2) अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय :-** जिस समय बुद्धिपूर्वक राग है, उसी समय अपने ख्याल में न आ सके - ऐसा अबुद्धिपूर्वक राग भी है, उसे आत्मा का जानना। **(3) उपचरितसद्भूतव्यवहारनय :-** ज्ञान, पर को जानता है अथवा ज्ञान में राग, ज्ञात होने से 'राग का ज्ञान है' — ऐसा कहना। अथवा ज्ञातास्वभाव के भानपूर्वक ज्ञानी 'विकार को भी जानता है'— ऐसा कहना। **(4) अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय :—**ज्ञान, वह आत्मा इत्यादि गुण-गुणी का भेद करना।

प्रश्न 64 – चार प्रकार के आगम और अध्यात्म के नयों की जानकारी आवश्यक क्यों है ?

उत्तर – किस अपेक्षा क्या बात बतलायी जा रही है, उसकी जानकारी होने के लिए।

प्रश्न 65 – निश्चयनय-व्यवहारनय के सम्बन्ध में क्या जानना चाहिए ?

उत्तर – निश्चयनय से जो निरुपण किया हो, उसे सत्यार्थ मानकर, उसका श्रद्धान अङ्गीकार करना और व्यवहारनय से जो निरुपण किया हो, उसे असत्यार्थ मानकर, उसका श्रद्धान छोड़ना।

प्रश्न 66 – व्यवहारनय का त्याग करके निश्चयनय को अङ्गीकार करने का आदेश कहीं भगवान अमृतचन्द्राचार्य ने दिया है ?

उत्तर – हाँ दिया है। (1) श्री समयसार, कलश 173 में आदेश दिया है कि 'सर्व ही हिंसादि व अहिंसादि' में जो अध्यवसाय है, सो समस्त ही छोड़ना – ऐसा जिनदेवों ने कहा है। (2) अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि इसलिए मैं ऐसा मानता हूँ कि जो पराश्रितव्यवहार है सो सर्व ही छुड़ाया है। (3) तो फिर सन्त पुरुष एक परम त्रिकाली ज्ञायक निश्चय ही को अङ्गीकार करके शुद्ध ज्ञानघनरूप निज महिमा में स्थिति क्यों नहीं करते ? ऐसा कहकर आचार्य भगवान ने खेद प्रगट किया है।

प्रश्न 67– निश्चयनय को अङ्गीकार करने और व्यवहारनय के त्याग के विषय में भगवान कुन्दकुन्द आचार्य ने श्री मोक्षप्राभृत गाथा 31 में क्या कहा है ?

उत्तर – जो व्यवहार की श्रद्धा छोड़कर निश्चय की श्रद्धा करता, वह योगी अपने आत्मकार्य में जागता है तथा जो व्यवहार में

जागता है, वह अपने कार्य में सोता है; इसलिए व्यवहारनय का श्रद्धान छोड़कर, निश्चय कर श्रद्धाना करना योग्य है।

प्रश्न 68 - व्यवहारनय का श्रद्धान छोड़कर, निश्चयनय का श्रद्धान करना क्यों योग्य है?

उत्तर - (1) व्यवहारनय [अ] स्वद्रव्य-परद्रव्य को, **[आ]** स्वद्रव्य के भावों को-परद्रव्य के भावों को, **[इ]** तथा कारण-कार्यादि को; किसी को किसी में मिलाकर निरुपण करता है, सो ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है; इसलिए उसका त्याग करना चाहिए। **(2)** और निश्चयनय उन्हीं को यथावत निरुपण करता है तथा किसी को किसी में नहीं मिलाता है —ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; इसलिए उसका श्रद्धान करना चाहिए।

प्रश्न 69 - आप कहते हो कि व्यवहारनय के श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है; इसलिए उसका त्याग करना और निश्चयनय के श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; इसलिए उसका श्रद्धान करना —परन्तु जिनमार्ग में दोनों नयों का ग्रहण करना कहा है — उसका कारण क्या है?

उत्तर - (1) जिनमार्ग में कहीं तो निश्चयनय की मुख्यता के लिए व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ ऐसे ही है'— ऐसा जानना। (2) तथा कहीं व्यवहानय की मुख्यता के लिए व्याख्यान है, उसे 'ऐसे है नहीं, निमित्तादि की अपेक्षा उपचार किया है' — ऐसा जानना। इस प्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है।

प्रश्न 70 - कुछ मनीषी ऐसा कहते हैं कि 'ऐसे भी हैं और ऐसे भी है' इस प्रकार दोनों नयों का ग्रहण करना चाहिए — क्या उन का ऐसा कहना गलत है?

उत्तर - हाँ, बिल्कुल गलत है, क्योंकि उन्हें जिनेन्द्रभगवान की

आज्ञा का पता नहीं है क्योंकि दोनों नयों को समान सत्यार्थ जानकर 'ऐसे भी है और ऐसे भी है' इस प्रकार भ्रमरूप प्रवर्तन से तो दोनों नयों का ग्रहण करना नहीं कहा है।

प्रश्न 71 - व्यवहारनय असत्यार्थ है, तो उसका उपदेश जिनमार्ग में किसलिए दिया? एकमात्र निश्चयनय ही का निरुपण करना था।

उत्तर - ऐसा ही तर्क समयसार में किया है — वहाँ उत्तर दिया दिया है -जिस प्रकार म्लेच्छ को म्लेच्छभाषा बिना, अर्थ ग्रहण कराने में कोई समर्थ नहीं है; उसी प्रकार व्यवहार के बिना (संसार में संसारी भाषा के बिना) परमार्थ का उपदेश अशक्य है; इसलिए व्यवहार का उपदेश है। इस प्रकार निश्चय का ज्ञान कराने के लिए व्यवहार द्वारा उपदेश देते हैं; उसका विषय भी है, परन्तु वह अङ्गीकार करने योग्य नहीं है।

प्रश्न 72 - व्यवहार बिना, निश्चय का उपदेश कैसे नहीं होता है —इसे समझाइये?

उत्तर - निश्चय से आत्मा, परद्रव्यों से भिन्न, स्व-भावों से अभिन्न, स्वयं सिद्ध वस्तु है। उसे जो नहीं पहचानते, उनसे इसी प्रकार कहते रहें, तब तो वे समझ नहीं पाये; इसलिए उनको व्यवहारनय से शरीरादिक परद्रव्यों की सापेक्षता द्वारा नर-नारक-पृथ्वी कायादिरूप जीव के विशेष किये; तब मनुष्य जीव है, नारकी जीव है — इत्यादि प्रकारसहित उन्हें जीव की पहचान हुई। इस प्रकार व्यवहार बिना (शरीर के संयोग बिना), निश्चय के (आत्मा के) उपदेश का न होना जानना।

प्रश्न 73 - उक्त प्रश्न में व्यवहारनय से शरीरादिकसहित जीव की पहचान करायी - तब ऐसे व्यवहारनय को कैसे अङ्गीकार नहीं करना चाहिए?

उत्तर - व्यवहारनय से नर-नारक आदि पर्याय ही को जीव कहा - सो पर्याय ही को जीव नहीं मान लेना। वर्तमान पर्याय तो जीव-पुद्गल के संयोगरूप है। वहाँ निश्चय से जीवद्रव्य भिन्न है; उस ही को जीव मानना। जीव के संयोग से शरीरादिक को भी उपचार से जीव कहा, सो कथनमात्र ही है; परमार्थ से शरीरादिक जीव होते नहीं। ऐसा ही श्रद्धान करना। इस प्रकार व्यवहारनय (शरीरादिकवाला जीव है), अङ्गीकार करने योग्य नहीं है।

प्रश्न 74 - व्यवहार बिना (भेद बिना) निश्चय का (अभेद आत्मा का) उपदेश कैसे नहीं होता? इसे भेद-अभेद पर लगाकर समझाइये।

उत्तर - निश्चय से आत्मा अभेद वस्तु है; उसे जो नहीं पहचानते, उनसे इसी प्रकार कहते रहे तो वे समझ नहीं पायें। तब उनको अभेद वस्तु में भेद उत्पन्न करके ज्ञान-दर्शनादि गुण-पर्यायरूप जीव के विशेष किये, तब जाननेवाला जीव है, देखनेवाला जीव है — इत्यादि प्रकारसहित जीव को पहचान हुई। इस प्रकार भेद बिना, अभेद के उपदेश का न होना जानना।

प्रश्न 75 - उक्त प्रश्न में व्यवहार से ज्ञान-दर्शन भेद द्वारा जीव की पहचान करायी —तब ऐसे भेदरूप व्यवहारनय को कैसे अङ्गीकार नहीं करना चाहिए?

उत्तर - अभेद आत्मा के ज्ञान-दर्शनादि भेद किए, सो उन्हें भेदरूप ही नहीं मान लेना, क्योंकि भेद तो समझाने के अर्थ किये हैं। निश्चय से आत्मा अभेद ही है; उस ही को जीव वस्तु मानना। संज्ञा-संख्या-लक्षण आदि से भेद कहे, सो कथनमात्र ही हैं। परमार्थ से द्रव्य-गुण भिन्न-भिन्न नहीं हैं, ऐसा ही श्रद्धान करना। इस प्रकार भेदरूप व्यवहानय अङ्गीकार करने योग्य नहीं है।

प्रश्न 76 - व्यवहार बिना, निश्चय का उपदेश कैसे नहीं होता ? इसे वीतरागभाव पर लगाकर समझाइये।

उत्तर - निश्चय से वीतरागभाव मोक्षमार्ग है, उसे जो नहीं पहचानते, उनको ऐसे ही कहते रहें, तो वे समझ नहीं पाये, तब उनको (1) तत्त्वश्रद्धान-ज्ञानपूर्वक (2) परद्रव्य के निमित्त मिटने की सापेक्षता द्वारा (3) व्यवहारनय से व्रत-शील-संयमादि को वीतरागभाव के विशेष बतलाये, तब उन्हें वीतरागभाव की पहचान हुई; इस प्रकार व्यवहार बिना, निश्चयमार्ग के उपदेश का न होना जानना।

प्रश्न 77 - उक्त प्रश्न में व्यवहारनय से मोक्षमार्ग की पहचान करायी, तब ऐसे व्यवहारनय को कैसे अङ्गीकार नहीं करना चाहिए ?

उत्तर - परद्रव्य का निमित्त मिटने की अपेक्षा से व्रत-शील-संयमादिक को मोक्षमार्ग कहा, सो इन्हीं को मोक्षमार्ग नहीं मान लेना, क्योंकि (1) परद्रव्य का ग्रहण-त्याग आत्मा के हो तो आत्मा परद्रव्य का कर्ता-हर्ता हो जावे परन्तु कोई द्रव्य, किसी द्रव्य के आधीन नहीं है; इसलिए आत्मा अपने भाव जो रागादिक हैं, उन्हें छोड़कर वीतरागी होता है। (3) इसलिए निश्चय से वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग है। (4) वीतरागभावों के और व्रतादिक के कदाचित् कार्य-कारणपना (निमित्त-नैमित्तकपना) है; (5) इसलिए व्रतादि को मोक्षमार्ग कहें, सो कथनमात्र ही है। (6) परमार्थ से बाह्य क्रिया मोक्षमार्ग नहीं है - ऐसा ही श्रद्धान करना। इस प्रकार व्यवहारनय अङ्गीकार करने योग्य नहीं है, ऐसा जानना।

प्रश्न 78 - जो जीव, व्यवहारनय के कथन को ही सच मान लेता है, उसे जिनवाणी में किन नामों से सम्बोधन किया है ?

उत्तर - (1) श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, गाथा 6 में कहा कि

'तस्य देशना नास्ति'। (2) श्री समयसार, कलश 55 में कहा है कि 'अज्ञान-मोह अन्धकार है, उसका सुलटना दुर्निवार है।' (3) श्री प्रवचनसार, गाथा 55 में कहा है 'वह पद-पद पर धोखा खाता है'। (4) आत्मावलोकन में कहा है कि 'यह उसका हरामजादीपना है।' — इत्यादि। उसे शास्त्रों में मूर्ख आदि नामों से भी सम्बोधन किया है।

प्रश्न 79 - जीव-अजीवादि में हेय-ज्ञेय-उपादेयपना किस प्रकार है?

उत्तर - शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव जिसका है, वैसा निज परमात्मद्रव्य आश्रय करने योग्य परम उपादेय है। (2) अजीवतत्त्व ज्ञेयरूप है। (3) अजीवतत्त्व की और दृष्टि से जो आस्रव-बन्ध-पुण्य-पाप उत्पन्न होते हैं, वे सब छोड़नेयोग्य / हेय है। (4) शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव जिसका है, उस निज परमात्मद्रव्य के आश्रय से उत्पन्न एकदेश वीतरागता प्रगट करने योग्य एक देश उपादेय एवं (5) पूर्ण क्षायिकदशा, पूर्ण प्रगट करने योग्य उपादेय है।

प्रश्न 80 - जीव-अजीव को क्यों जानना चाहिए? इस विषय में श्री मोक्षमार्गप्रकाशक में क्या बताया है।

उत्तर - (1) प्रथम तो दुःख दूर करने में आपा-पर का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। (2) यदि आपा-पर का ज्ञान नहीं हो तो अपने को पहचाने बिना, अपना दुःख कैसे दूर करे? (3) अपने को और पर को एक जानकर अपना दुःख दूर करने के अर्थ, पर का उपचार करे तो अपना दुःख कैसे दूर हो? (4) आप स्वयं जीव है और पर अपने से भिन्न हैं; परन्तु यह पर में अहंकार-ममकार करे तो उसे दुःख ही होता है। अपना और पर का ज्ञान होने पर ही दुःख दूर होता है। (5) अपना और पर का ज्ञान, जीव-अजीव का ज्ञान होने पर ही होता है, क्योंकि आप स्वयं जीवतत्त्व है, शरीरादिक अजीवतत्त्व

है। यदि लक्षणादि द्वारा जीव-अजीव की पहचान हो तो अपनी और पर की भिन्नता भाषित हो; इसलिए जीव-अजीव को जानना चाहिए। (मो. पृ. 78)

प्रश्न 81- जीव अनादि से दु:खी क्यों है?

उत्तर - (1) जीव को अनादि से स्व-पर की एकत्वरूप श्रद्धा से मिथ्यादर्शन है। (2) स्व-पर के एकत्वज्ञान से मिथ्याज्ञान है। (3) स्व-पर के एकत्वआचरण से मिथ्याचारित्र है; अत: अनादि से जीव स्व-पर के एकत्वादि के कारण ही दु:खी है।

प्रश्न 82 - नयज्ञान और भेदज्ञान की आवश्यकता क्यों है?

उत्तर - समस्त दु:खों का मूलकारण मिथ्यादर्शन-ज्ञान चारित्र ही है। इन सभी दु:खों का अभाव करने के लिए नयज्ञान और भेदज्ञान की आवश्यकता है।

प्रश्न 83 - भेदज्ञान कितने प्रकार से करे तो संसार का अभाव होकर मोक्ष की प्राप्ति हो?

उत्तर - एक प्रकार से ही भेदज्ञान करे तो आत्मसन्मुख हो सकता है। (1) एक तरफ निज जीवतत्त्व और दूसरी तरफ अजीवतत्त्व, उससे मेरा किसी भी अपेक्षा किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। ऐसा जाने-माने तो संसार का अभाव और मोक्ष की प्राप्ति है।

प्रश्न 84 - पर्याय किसे कहते हैं?

उत्तर - गुणों के कार्य को पर्याय कहते हैं।

प्रश्न 85 - पर्याय के कितने भेद हैं?

उत्तर - दो भेद हैं - व्यंजनपर्याय, और अर्थपर्याय।

प्रश्न 86 - व्यंजनपर्याय किसे कहते हैं और व्यंजनपर्याय के कितने भेद हैं?

उत्तर - द्रव्य के प्रदेशत्वगुण के विशेषकार्य को व्यंजनपर्याय कहते हैं और व्यंजनपर्याय के दो भेद हैं (1) स्वभावव्यंजनपर्याय (2) विभावव्यंजनपर्याय।

प्रश्न 87 - अर्थपर्याय किसे कहते हैं और अर्थपर्याय के कितने भेद हैं?

उत्तर - प्रदेशत्वगुण के सिवाय सम्पूर्ण गुणों के कार्य को अर्थपर्याय कहते है और अर्थपर्याय के दो भेद हैं (1) स्वभाव -अर्थपर्याय, (2) विभावअर्थपर्याय।

प्रश्न 88 - पर्याय का स्पष्टीकरण?

उत्तर - जैन सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला में पर्याय के वर्णन में देखें।

प्रश्न 89 - छहढ़ाला में इस विषय में क्या बताया है?

उत्तर - **तास ज्ञान के कारण, स्व-पर विवेक बखानौ।**
कोटि उपाय बनाय, भव्य ताको उर आनौ॥

प्रश्न 90- श्री इष्टोपदेश, 50 वें श्लोक में इस विषय में क्या बताया है?

उत्तर - **चेतन पुद्गल भिन्न हैं, यही तत्त्व संक्षेप।**
अन्य कथन सब हैं, इसी के विस्तार विशेष॥

प्रश्न 91 - सामायिकपाठ में इस विषय में क्या बताया है?

उत्तर -

महा कष्ट पाता जो करता, पर पदार्थ जड़-देह संयोग।
मोक्षमहल का पथ है सीधा, जड़-चेतन का पूर्ण वियोग॥

प्रश्न 92 - योगसार में इस विषय में क्या बताया है?

उत्तर - **जीव पुद्गल दोऊ भिन्न हैं, भिन्न सकल व्यवहार।**
तज पुद्गल ग्रह जीव तो, शीघ्र लहे भवपार॥

जीवाधिकार

तिक्काले चदुपाणा इंदियबलमाउआणपाणो य।
ववहारा सो जीवो णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स ॥3॥

गाथार्थ :– तीनों कालों में इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास – इन चार प्राणों को जो धारण करता है, वह व्यवहारनय से जीव है। निश्चयनय से जिसको चेतना है, वह जीव है।

प्रश्न 93 – शुद्धनिश्चयनय से अनादि-अनन्त प्रत्येक प्राणी के कौन-सा प्राण है?

उत्तर – निगोद से लगाकर सिद्ध भगवान तक, शुद्ध निश्चयनय से अनादि-अनन्त शुद्ध चेतनाप्राण ही है।

प्रश्न 94 – प्राणों के कितने-कितने प्रकार हैं और किस-किस अपेक्षा से हैं?

उत्तर – प्राणों के तीन प्रकार हैं। (1) अनुपचरितअसद्भूत-व्यवहारनय से जड़प्राण, संसारदशा में ही होते हैं। (2) उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय से भावप्राण, संसारदशा में होते हैं। (3) शुद्ध-निश्चयनय से अनादि-अनन्त चेतनाप्राण, प्राणीमात्र के पास है। (4) चौथे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक एकदेश अतीन्द्रिय भावप्राण और तरहवें-चौदहवें गुणस्थान तथा सिद्धदशा में क्षायिकदशारूप अतीन्द्रियभावप्राण अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय से ज्ञानियों के होते हैं।

प्रश्न 95 – जड़प्राण किसका कार्य है और किसकी, किस दशा में होते हैं?

उत्तर – (1) पाँच इन्द्रियाँ; तीन बल; आयु और श्वासोच्छवास — ये जड़प्राण पुद्गलद्रव्य की स्कन्धरूप पर्याय है।

(2) अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से जीव को संसारदशा में संयोगरूप से इन जड़प्राणों का संयोग होता है।

प्रश्न 96 - भावप्राण किसका कार्य है और किसको किस दशा में हो सकते हैं?

उत्तर - (1) क्षयोपशमज्ञान के उघाड़रूप, ज्ञानदशा (2) बलप्राण वीर्यगुण की क्षयोंपशमदशा आदि जीव की दशा, उपचरितसद्भूत -व्यवहारनय से संसारदशा में हैं।

प्रश्न 97 - अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से एकेन्द्रिय जीव के कितने जड़ प्राणों का संयोग होता है?

उत्तर - अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से एकेन्द्रिय जीव के स्पर्शन, इन्द्रिय, कायबल, आयु और श्वासोच्छवास - इन चार जड़प्राणों का संयोग होता है।

प्रश्न 98 - अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से दो इन्द्रियवाले जीव के कितने जड़प्राणों का संयोग होता है?

उत्तर - अनुपचरितअसद्भूत व्यवहारनय से दो इन्द्रियवाले जीव के स्पर्शन-रसना दो इन्द्रियाँ; वचन-काय दो बल; आयु और स्वासोच्छवास, इन छह जड़प्राणों का संयोग होता है।

प्रश्न 99 - अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से तीन इन्द्रियवाले जीव के कितने जड़प्राणों का संयोग होता है?

उत्तर - अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से तीन इन्द्रियवाले जीव के स्पर्शन-रसना-घ्राण तीन इन्द्रियाँ; वचन-काय दो बल; आयु और श्वासोच्छवास, इन सात जड़प्राणों का संयोग होता है।

प्रश्न 100 - अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से पाँच इन्द्रियवाले असैनी जीव के कितने जड़प्राणों का संयोग होता है?

उत्तर - अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से पाँच इन्द्रियवाले असैनी जीव के स्पर्शन-रसना -घ्राण-चक्षु-कर्ण, पाँच इन्द्रियाँ; वचन-काय दो बल; आयु और श्वासोच्छवास, इन नौ जड़प्राणों का संयोग होता है।

प्रश्न 101 - अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय के संज्ञी पाँच इन्द्रियवाले जीव के कितने जड़प्राणों का संयोग होता है ?

उत्तर - अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से सैनी पाँच इन्द्रियवाले जीव के स्पर्शन-रसना-घ्राण-चक्षु-कर्ण पाँच इन्द्रियाँ; मन-वचन -काय तीन बल; आयु और श्वासोच्छवास, इन दस जड़-प्राणों का संयोग होता है।

प्रश्न 102 - अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से जड़-प्राण जीव के होते हैं — ऐसा कौन कह सकता है और क्यों ?

उत्तर - ज्ञानी ही कह सकता है क्योंकि उसको अपने निश्चय चेतनाप्राण का ज्ञान है।

प्रश्न 103 - कोई चतुर कहता है मैं चेतनाप्राण हूँ — ऐसे निश्चयनय का श्रद्धान रखता हूँ और मैं दश प्राणवाला हूँ - ऐसे अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय की प्रवृत्ति रखता हूँ, परन्तु आपने हमारे निश्चय-व्यवहार दोनों को झूठा बता दिया तो हम निश्चय-व्यवहार दोनों नयों को किस प्रकार समझे तो हमारा माना हुआ निश्चय-व्यवहार सत्यार्थ कहलावे ?

उत्तर - मैं चेतनाप्राणवाला हूँ - ऐसा जो शुद्धनिश्चयनय से निरुपण किया हो, उसे तो सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अङ्गीकार करना और मैं दश प्राणवाला हूँ - ऐसा जो अनुपचरितअसद्भूतव्यवहार से निरुपण किया हो, उसे असत्यार्थ मानकर, उसका श्रद्धान छोड़ना।

प्रश्न 104 - मैं दश प्राणवाला हूँ - ऐसे अनुपचरितअसद्भूत

-व्यवहारनय के त्याग करने का और मैं चेतनाप्राणवाला हूँ - ऐसे शुद्धनिश्चयनय के अङ्गीकार करने का आदेश कहीं जिनवाणी में भगवान अमृतचन्द्राचार्य ने दिया है ?

उत्तर- श्री समयसार, कलश 173 में आदेश दिया है कि (1) मिथ्यादृष्टि की ऐसी मान्यता है कि शुद्धनिश्चयनय से मैं चेतनाप्राणवाला हूँ और अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से मैं दश प्राणोंवाला हूँ - यह मिथ्या अध्यवसाय है और ऐसे-ऐसे समस्त अध्यवसानों को छोड़ना, क्योंकि मिथ्यादृष्टि को निश्चय-व्यवहार कुछ होता ही नहीं - ऐसा अनादि से जिनेन्द्रभगवान की दिव्यध्वनि में आया है। (2) स्वयं अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि मैं ऐसा मानता हूँ कि ज्ञानियों को जो, मैं दश प्राणवाला हूँ, ऐसा पराश्रित व्यवहार जो होता है, सो सर्व ही छुड़ाया है - तो फिर सन्त पुरुष स्वयं सिद्ध एक परम त्रिकाली चेतना ही को अङ्गीकार करके, शुद्ध ज्ञानघनरूप निज महिमा में स्थिति करके क्यों केवलज्ञानादि प्रगट नहीं करते हैं ? ऐसा कहकर आचार्य भगवान ने खेद प्रगट किया है।

प्रश्न 105 - मैं चेतनाप्राणवाला हूँ - ऐसे शुद्धनिश्चयनय को अङ्गीकार करने और मैं दश प्राणवाला हूँ - ऐसे अनुपचरित -असद्भूतव्यवहारनय के त्याग के विषय में भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने क्या कहा है ?

उत्तर - श्री मोक्षप्राभृत, गाथा 31 में कहा कि (1) मैं दश प्राणवाला हूँ - ऐसे अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय की श्रद्धा छोड़कर, मैं चेतनाप्राणवाला हूँ - ऐसे शुद्धनिश्चयनय की श्रद्धा करता है, वह योगी अपने आत्मकार्य में जागता है, तथा (2) मैं दश प्राणवाला हूँ — ऐसे अनुपचरितअसद्भूतव्यवहानय में जागता है, वह अपने आत्मकार्य में सोता है। (3) इसलिए मैं दश प्राणवाला हूँ, - ऐसे

अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय का श्रद्धान छोड़कर, मैं शुद्ध चेतना-प्राणवाला हूँ – ऐसे निश्चयनय का श्रद्धान करना योग्य है।

प्रश्न 106 – मैं दश प्राणवाला हूँ – ऐसे अनुपचरितअसद्भूत-व्यवहानय का श्रद्धान छोड़कर, मैं चेतनाप्राणवाला हूँ – ऐसे शुद्ध निश्चयनय का श्रद्धान करना क्यों योग्य है ?

उत्तर – (1) व्यवहारनय – मैं चेतनाप्राण हूँ – ऐसा स्वद्रव्य और मैं दश प्राणवाला हूँ – ऐसे परद्रव्य को, किसी को किसी में मिलाकर निरुपण करता है, सो मैं दश प्राणवाला हूँ – ऐसे अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय के श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है; इसलिए उसका त्याग करना। (2) निश्चयनय – मैं चेतनाप्राणवाला हूँ –ऐसा स्वद्रव्य और मैं दश प्राणवाला हूँ – ऐसा परद्रव्य; इस प्रकार स्वद्रव्य–परद्रव्य का यथावत निरुपण करता है; किसी को किसी में नहीं मिलाता है। मैं चेतनाप्राणवाला हूँ – सो ऐसे ही शुद्ध निश्चयनय के श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; इसलिए उसका श्रद्धान करना।

प्रश्न 107 – आप कहते हो कि मैं दश प्राणवाला हूँ – ऐसे अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय के श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है; इसलिए उसका त्याग करना तथा मैं चेतनाप्राणवाला हूँ – ऐसे शुद्धनिश्चयनय के श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है, इसलिए उसका श्रद्धान करना – यदि ऐसा है तो जिनमार्ग में दोनों नयों का ग्रहण करना कहा है, सो कैसे है ?

उत्तर – (1) जिनमार्ग में कहीं तो मैं चेतनाप्राणवाला हूँ –ऐसे शुद्धनिश्चयनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ ऐसे ही है' – ऐसा जानना (2) तथा कहीं मैं दश प्राणवाला हूँ – ऐसे अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय का मुख्यता लिए व्याख्यान है, उसे 'ऐसे है नहीं, निमित्तादि की अपेक्षा उपचार किया है' – ऐसा

जानना। (3) मैं दश प्राणवाला नहीं हूँ; मैं तो चेतनाप्राणवाला हूँ – इस प्रकार जानने का नाम ही निश्चय–व्यवहार दोनों नयों का ग्रहण है।

प्रश्न 108 – कुछ मनीषी ऐसा कहते हैं कि 'मैं चेतना-प्राणवाला भी हूँ और मैं दश प्राणवाला भी हूँ' इस प्रकार हम निश्चय-व्यवहार, दोनों नयों का ग्रहण करते हैं। क्या उन महानुभावों का ऐसा कहना गलत है?

उत्तर – हाँ, बिल्कुल गलत है, क्योंकि ऐसे महानुभावों को जिनेन्द्रभगवान की आज्ञा का पता ही नहीं। उन महानुभावों ने निश्चय–व्यवहार दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर, कि अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से मैं दश प्राणवाला भी हूँ और शुद्धनिश्चनय से मैं चेतनाप्राणवाला भी हूँ; इस प्रकार भ्रमरूप प्रवर्तन किया है, किन्तु इस प्रकार तो निश्चय–व्यवहार दोनों नय का ग्रहण करना जिनवाणी में नहीं कहा है।

प्रश्न 109 – मैं दश प्राणवाला हूँ – यदि अनुपचरितअसद्भूत -व्यवहारनय असत्यार्थ हूँ, तो उसका उपदेश जिनवाणी में किसलिए दिया। मैं चेतनाप्राणवाला हूँ – ऐसे एकमात्र शुद्धनिश्चयनय का ही निरुपण करना था?

उत्तर – (1) ऐसा ही तर्क समयसार में किया है। वहाँ उत्तर दिया है कि जिस प्रकार म्लेच्छ को म्लेच्छभाषा बिना, अर्थ ग्रहण कराने को कोई समर्थ नहीं है; उसी प्रकार मैं दश प्राणवाला हूँ – ऐसे अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय के बिना, मैं चेतनाप्राणवाला हूँ – ऐसे परमार्थ का उपदेश अशक्य है; इसलिए मैं दस प्राणवाला हूँ – ऐसे अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय का उपदेश है। (2) मैं चेतनाप्राणवाला हूँ – ऐसे शुद्धनिश्चयनय का ज्ञान कराने के लिए, मैं दस प्राणवाला हूँ – ऐसे अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय द्वारा

उपदेश देते हैं। व्यवहारनय है, उसका विषय भी है, वह जाननेयोग्य है, परन्तु अङ्गीकार करनेयोग्य नहीं है।

प्रश्न 110 - मैं दश प्राणवाला हूँ - ऐसे अनुपचरितअसद्भूत -व्यवहार के बिना, मैं चेतनाप्राणवाला हूँ - ऐसे शुद्धनिश्चयनय का उपदेश कैसे नहीं होता ? इसे समझाइये।

उत्तर - शुद्ध निश्चयनय से आत्मा, चेतनाप्राणवाला है, उसे जो नहीं पहचानते, उनसे इसी प्रकार कहते रहे, तब तो वे समझ नहीं पाये, इसलिए उनको अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से आत्मा दस प्राणवाला, नौ प्राणवाला, आठ प्राणवाला है; इस प्रकार जड़प्राणों की सापेक्षता द्वारा जीव की पहिचान करायी, तब उन्हें दश प्राणसहित जीव की पहचान हुई।

प्रश्न 111 - मैं दश प्राणवाला हूँ - ऐसे अनुपचरितअसद्भूत -व्यवहारनय से जीव की पहचान कराई, तब मैं दश प्राणवाला हूँ - ऐसे अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय को कैसे अङ्गीकार नहीं करना चाहिए ?

उत्तर - अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से दश प्राणरूप पर्याय को जीव कहा, सो प्राणों को ही जीव नहीं मान लेना। प्राण तो जीव के संयोगरूप है। शुद्धनिश्चनय से चेतनाप्राणवाला जीव, भिन्न हैं, उस ही को जीव मानना। चेतनाप्राणवाले आत्मा के संयोग से, जड़ प्राणों को भी उपचार से जीव कहा - सो कथनमात्र ही है; परमार्थ से जड़प्राण जीव होते ही नहीं - ऐसा श्रद्धान करना।

प्रश्न 112- मैं दश प्राणवाला हूँ - ऐसे अनुपचरितअसद्भूत -व्यवहारनय के कथन को ही जो सत्य मान लेता है, उस जीव को जिनवाणी में किस-किस नाम से सम्बोधन किया है ?

उत्तर - मैं दश प्राणवाला हूँ - ऐसे अनुपचरितअसद्भूत

-व्यवहारनय के कथन को ही जो सच्चा मान लेता है, उसे (1) पुरुषार्थ सिद्धियुपाय में 'तस्य देशना नास्ति' कहा है। (2) श्री समयसार, कलश 55 में 'यह उसका अज्ञान-मोह अन्धकार है, उसका सुलटना दुर्निवार है।' (3) श्री प्रवचनसार, गाथा 55 में 'पद-पद पर धोखा खाता है।' (4) आत्मावलोकन में 'यह उसका हरामजादीपना है।' - इत्यादि कहा है।

प्रश्न 113 - चेतनाप्राण क्या हैं और किसे होते हैं?

उत्तर - चेतनाप्राण त्रिकाल पारिणमितक भावरूप से हैं और निगोद से लगाकर सिद्धभगवान तक के सर्व जीवों के चेतनाप्राण एक समान सदा विद्यमान रहता है। चेतनाप्राण के आश्रय से ही धर्म की प्राप्ति, वृद्धि और पूर्णता होती है।

प्रश्न 114 - प्राणों में ज्ञेय-हेय-उपादेयपना किस प्रकार है?

उत्तर - (1) संयोगरूप जड़प्राण व्यवहारनय से ज्ञान का ज्ञेय हैं। (2) क्षयोपशमरूप भावप्राण, ज्ञेय-हेय हैं। (3) चेतनाप्राण आश्रय करने योग्य परम उपादेय हैं। (4) चेतनाप्राण के आश्रय से जो ज्ञान व बलादि प्रगट हुआ है, वह एकदेश प्रगट करनेयोग्य उपादेय है। (5) चेतनाप्राण के परिपूर्ण आश्रय से जो क्षायिकदशा प्रगट हुई है, वह पूर्ण प्रगट करनेयोग्य उपादेय है।

प्रश्न 115 - अनादि से संसार क्यों है?

उत्तर - जड़प्राणों में अपनेपने की मान्यता से ही संसार है। जब तक जीव, देह प्रधान विषयों का ममत्व नहीं छोड़ता, तब तक वह पुनः पुनः अन्य-अन्य प्राण धारण करता है।

प्रश्न 116 - इन जड़प्राणों का सम्बन्ध कैसे मिटे?

उत्तर - मैं चेतनाप्राणवाला हूँ - ऐसा अनुभव करे तो इन दश

प्राणों में ममत्वपना मिटकर, क्रम से सिद्धदशा की प्राप्ति हो, तब प्राणों का सम्बन्ध ही नहीं बनेगा।

प्रश्न 117 - तीसरी गाथा का तात्पर्य क्या है?

उत्तर - जीवद्रव्य से पुद्गल विपरीत है; इसलिए चेतनामयी परमात्मद्रव्य ही मैं हूँ - ऐसी भावना करनी चाहिए।

प्रश्न 118 - सिद्धभगवान में कौन-कौन से प्राण होते हैं?

उत्तर - शुद्धनिश्चयनय से चेतनाप्राण तो है ही; पर्याय में जो क्षायिकदशा प्रगट हो जाती है, उसे भी भावप्राण कहते हैं; इस प्रकार सिद्धभगवान के चेतनाप्राण और उसके आश्रय से शुद्धदशारूप प्राण होते हैं।

प्रश्न 119 - साधक ज्ञानी के कौन-कौन से प्राण होते हैं?

उत्तर - (1) चेतनाप्राण तो शुद्ध निश्चयनय से है ही; (2) पर्याय में अपनी-अपनी भूमिकानुसार जो शुद्धि प्रगट होती है, वह भावप्राण आनन्दरूप है। (3) जड़प्राण, ज्ञेयरूप हैं। (4) जो अशुद्धि है, वह हेयरूप है।

प्रश्न 120 - संक्षिप्त में इस गाथा में क्या बताया है?

उत्तर - अपने चेतनाप्राण का आश्रय ले तो सुखी हो।

उपयोग अधिकार (दर्शनोपयोग के भेद)

उवओगो दुवियप्पो दंसणणाणं च दंसणं चदुधा।
चक्खु अचक्खू ओही दंसणमध केवलं णेयं ॥4॥

गाथार्थ :- उपयोग दो प्रकार का है - दर्शन और ज्ञान। उसमें दर्शनोपयोग चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन - इस प्रकार चार प्रकार का जानना।

प्रश्न 121 - उपयोग किसे कहते हैं ?

उत्तर - चैतन्य का अनुसरण करके होनेवाले आत्मा के परिणाम को उपयोग कहते हैं।

प्रश्न 122 - उपयोग का द्रव्य और गुण क्या है ?

उत्तर — (1) चेतन, जीवद्रव्य है। (2) ज्ञान-दर्शन, गुण हैं। ज्ञान-दर्शन का एक नाम, चैतन्य है।

प्रश्न 123 - दर्शनोपयोग किसे कहते हैं और वह कितने प्रकार का है ?

उत्तर - पदार्थों के भेदरहित सामान्यप्रतिभास की दर्शनोपयोग कहते हैं। यह चार प्रकार का है - (1) चक्षदर्शन, (2) अचक्षदर्शन, (3) अवधिदर्शन, और (4) केवलदर्शन

प्रश्न 124 - चक्षुदर्शन किसे कहते हैं ?

उत्तर - चक्षुइन्द्रिय के द्वारा होनेवाले मतिज्ञान से पहले के सामान्यप्रतिभास को चक्षुदर्शन कहते हैं।

प्रश्न 125- अचक्षुदर्शन किसे कहते हैं ?

उत्तर - चक्षुइन्द्रिय को छोड़कर, शेष चार इन्द्रियों और मन के द्वारा होनेवाले मतिज्ञान से पहले के सामान्यप्रतिभास को अचक्षुदर्शन कहते हैं।

प्रश्न 126 - अवधिदर्शन किसे कहते हैं ?

उत्तर - अवधिज्ञान के पहले हानेवाले सामान्यप्रतिभास को अवधिदर्शन कहते हैं।

प्रश्न 127 - केवलदर्शन किसे कहते हैं ?

उत्तर - केवलज्ञान के साथ होनेवाले सामान्यप्रतिभास को केवलदर्शन कहते हैं।

प्रश्न 128 - दर्शन कब उत्पन्न होता है ?

उत्तर - छद्मस्थ जीवों के ज्ञान के पहले और केवलज्ञानियों के ज्ञान के साथ ही दर्शन उत्पन्न होता है।

प्रश्न 129 - शास्त्रों में आता है कि दर्शनावरणीयकर्म के क्षयोपशम, क्षय के अनुसार उपयोग होता है ?

उत्तर - यह निमित्तकारण का ज्ञान कराने के लिए उपचार का कथन है।

प्रश्न 130 - चार प्रकार के दर्शनों में श्रुतदर्शन और मन:पर्ययदर्शन के नाम क्यों नहीं आये ?

उत्तर - श्रुतदर्शन और मन:पर्ययदर्शन नहीं होते हैं, क्योंकि श्रुतज्ञान और मन:पर्ययज्ञान, मतिज्ञानपूर्वक ही होते हैं।

ज्ञानोपयोग के भेद

णाणं अट्ठवियप्पं मदिसुदिओही अणाणणाणाणि।
मणपज्जयकेवलमवि पच्चक्खपरोक्खभेयं च ।।5 ।।

गाथार्थ :- कुमति, कुश्रुत, कुअवधि, मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय और केवलज्ञान - इस प्रकार आठ प्रकार का ज्ञान है। इसमें भी प्रत्यक्ष और परोक्षरूप भेद है।

प्रश्न 131 - ज्ञानोपयोग किसे कहते हैं ?

उत्तर - पदार्थों के विशेषप्रतिभास को ज्ञानोपयोग कहते हैं।

प्रश्न 132 - ज्ञानोपयोग के कितने भेद हैं ?

उत्तर - आठ भेद हैं। पाँच ज्ञानरूप और तीन अज्ञानरूप। - (1) मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान - ये पाँच ज्ञानरूप भेद हैं। (2) कुमति, कुश्रुत, और कुअवधि - ये तीन अज्ञानरूप भेद हैं।

प्रश्न 133 - मतिज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर - (1) पराश्रय की बुद्धि छोड़कर, दर्शनोपयोगपूर्वक स्वसन्मुखता से प्रगट होनेवाले निज आत्मा के ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं। (2) इन्द्रिय और मन जिसमें निमित्तमात्र हैं - ऐसे ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं।

प्रश्न 134 - श्रुतज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर - (1) मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ के सम्बन्ध से अन्य पदार्थ को जाननेवाले ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। (2) आत्मा की शुद्ध अनुभूतिरूप श्रुतज्ञान को भावश्रुतज्ञान कहते हैं।

प्रश्न 135 -अवधिज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर - द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की मर्यादासहित रूपीपदार्थ के स्पष्ट ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं।

प्रश्न 136 - मन:पर्ययज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर - द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की मर्यादासहित, दूसरे के मन में स्थित रूपीविषय के स्पष्ट ज्ञान को, मन:पर्ययज्ञान कहते हैं।

प्रश्न 137 - केवलज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर - जो तीन लोक - तीन कालवर्ती सर्व पदार्थों को (अनन्त धर्मात्मक, सर्व द्रव्य-गुण-पर्याय को) प्रत्येक समय में यथास्थित परिपूर्णरूप से स्पष्ट और एक साथ जानता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं।

प्रश्न 138 - श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान, और केवलज्ञान से क्या सिद्ध होता है?

उत्तर - प्रत्येक द्रव्य में क्रमबद्धपर्याय होती है, आगे-पीछे नहीं होती है।

प्रश्न 139 - तीन अज्ञानरूप ज्ञान, मिथ्यादृष्टियों को किस-किस प्रकार हैं?

उत्तर - (1) चारों गतियों के मिथ्यादृष्टियों को कुमति-कुश्रुत तो होते ही हैं। (2) मिथ्यादृष्टि देव-देवियों तथा नारकियों को कुअवधि भी होता है। (3) किसी-किसी मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यंच के भी कुअवधि होता है।

प्रश्न 140 - पाँच ज्ञान, ज्ञानियों को किस-किस प्रकार हैं ?

उत्तर - (1) सम्यक्‌मति, सम्यक्‌श्रुत-ये दो ज्ञान छद्मस्थ सम्यग्दृष्टियों को होते ही हैं। (2) अवधिज्ञान किसी-किसी छद्मस्थ सम्यग्दृष्टि को होता है। (3) देव-नारकी सम्यग्दृष्टियों को सुमति-सुश्रुत-सुअवधि, ये तीन होते हैं। (4) मन:पर्ययज्ञान किसी-किसी भावलिङ्गी मुनि के होता है। (5) तीर्थङ्करदेव को मुनिदशा में तथा गणधरदेव को मन:पर्ययज्ञान-नियम से होता है। (6) केवलज्ञान, केवली और सिद्धभगवन्तों को होता है।

प्रश्न 141 - एक समय में एक जीव के कितने ज्ञान हो सकते हैं ?

उत्तर - एक समय में एक जीव के कम से कम एक और अधिक से अधिक चार ज्ञान हो सकते हैं। वे इस प्रकार हैं - (1) केवलज्ञान एक ही होता है। (2) दो — मतिज्ञान और श्रुतज्ञान होते हैं। (3) तीन — मति-श्रुत, अवधिज्ञान अथवा मति-श्रुत, मन:पर्ययज्ञान होते हैं। (4) चार — मति-श्रुत, अवधि, और मन:पर्ययज्ञान होते हैं।

प्रश्न 142- ज्ञान को मिथ्याज्ञान क्यों कहा है ?

उत्तर - मिथ्यादृष्टियों का मति-श्रुतज्ञान अन्य ज्ञेयों में लगता है, किन्तु प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों के यथार्थ निर्णय में नहीं लगता होने से मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहा है।

प्रश्न 143 - ज्ञान को अज्ञान क्यों कहा है ?

उत्तर - तत्त्वज्ञान को अभाव होने से ज्ञान को अज्ञान कहा है।

प्रश्न 144 - ज्ञान को कुज्ञान क्यों कहा है ?

उत्तर - अपना प्रयोजन सिद्ध नहीं करने की अपेक्षा से कुज्ञान कहा है।

प्रश्न 145 - ज्ञान के दूसरी तरह से कितने भेद हैं ?

उत्तर - दो भेद हैं - परोक्ष और प्रत्यक्ष।

प्रश्न 146 - परोक्षज्ञान कौन-कौन से हैं ?

उत्तर - कुमति-कुश्रुत; सुमति-सुश्रुत, ये चार ज्ञान परोक्ष हैं। मति-श्रुतज्ञान पर को जानने की अपेक्षा से परोक्ष होने पर भी निजात्मा की अनुभूति की अपेक्षा प्रत्यक्ष है।

प्रश्न 147 - प्रत्यक्ष के कितने भेद हैं ?

उत्तर - दो भेद हैं - विकल और सकल।

प्रश्न 148 - विकलप्रत्यक्षज्ञान कौन-कौन से हैं ?

उत्तर - कुअवधि-सुअवधि और मन:पर्ययज्ञान, विकल-प्रत्यक्षज्ञान है।

प्रश्न 149 - सकलप्रत्यक्ष कौन सा ज्ञान है ?

उत्तर - केवलज्ञान, सकलप्रत्यक्ष है।

प्रश्न 150 - ज्ञान-दर्शन के बारह भेद किस-किस भाव में आते हैं ?

उत्तर - [1] केवलज्ञान और केवलदर्शन, क्षायिकभाव में आते हैं। [2] अन्य शेष दश भेद, क्षायोपशमिकभाव में आते हैं। [3] इन दस उपयोगों में जितना ज्ञान-दर्शन का अभाव है, वह औदयिकभाव में आता है। गाथा 6 में वर्णित 'शुद्ध-ज्ञान-दर्शन' पारिणामिकभाव में आता है।

प्रश्न 151 - औपशमिकभाव कहाँ गया?

उत्तर - ज्ञान-दर्शन-वीर्य में औपशमिकभाव नहीं होता है।

उपयोग जीव का लक्षण

अट्ठ चदु णाणदंसण सामण्णं जीवलक्खणं भणियं।
ववहारा सुद्धणया सुद्धं पुणं दंसणं णाणं॥6॥

गाथार्थ :- व्यवहारनय से आठ प्रकार का ज्ञान और चार प्रकार का दर्शन - यह सामान्यरूप से जीव का लक्षण कहा है। शुद्धनय की अपेक्षा से शुद्ध ज्ञान-दर्शन को जीव का लक्षण कहा है।

प्रश्न 152 - चार दर्शनोपयोग, आठ ज्ञानोपयोग के भेदों के लिए छठी गाथा में 'सामान्य' शब्द का क्या अभिप्राय है?

उत्तर - इसमें दो अभिप्राय हैं। (1) इन बारह भेदों में संसारी और मुक्त का पृथक्-पृथक् कथन न करने के कारण, 'सामान्य' शब्द कहा है। (2) 'शुद्ध दर्शन-ज्ञान' ऐसा कथन न करके, ज्ञान-दर्शनोपयोग के 'सामान्यतया' भेद किए हैं; अतः बारह भेदों में से यथासम्भव जिस जीव के जो लागू पड़े, वह उस जीव का लक्षण समझना चाहिए।

प्रश्न 153 - गाथा चार से छह तक में उपयोग का अर्थ क्या समझना चाहिए और क्या नहीं समझना चाहिए?

उत्तर - (1) गाथा चार से छह तक में 'उपयोग' का अर्थ ज्ञान-दर्शन का उपयोग समझना चाहिए। (2) चरित्रगुण की जो शुभोपयोग-अशुभोपयोग-शुद्धोपयोग अवस्था है, वह यहाँ नहीं समझना चाहिए।

प्रश्न 154 - इन गाथाओं में व्यवहार किसे कहा और निश्चय किसे कहा है?

उत्तर - दर्शनोपयोग के चार और ज्ञानापयोग के आठ भेदों को व्यवहार कहा है और 'शुद्ध-दर्शन-ज्ञान' को निश्चय कहा है।

प्रश्न 155 - द्रव्यसंग्रह की तीसरी गाथा में किसे व्यवहार कहा और किसे निश्चय कहा है?

उत्तर - दश जड़प्राणों को व्यवहार कहा है और शुद्धचेतनाप्राण को निश्चय कहा है।

प्रश्न 156 - उपयोग अधिकार में सम्यक् श्रुतप्रमाण और नय किस प्रकार हैं?

उत्तर - (1) ज्ञान-दर्शन के भेदों को और शुद्ध-दर्शन-ज्ञान त्रिकाली को एक साथ जानना, सम्यक् श्रुतप्रमाण है। (2) ज्ञान-दर्शन के भेदों को गौण करके 'शुद्ध-दर्शन-ज्ञान' त्रिकाली को जानना, वह निश्चयनय है। (3) 'शुद्ध दर्शन-ज्ञान' त्रिकाली को गौण करके ज्ञान-दर्शन के भेदों को जानना, वह व्यवहारनय है।

प्रश्न 157 - मिथ्यादृष्टि के कुमति-कुश्रुत-कुअवधि होते हैं - इस कथन को किस नय से कहेंगे?

उत्तर - उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से।

प्रश्न 158 - छद्मस्थ साधक जीव के मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यय ज्ञान होते हैं - इस कथन को किस नय से कहेंगे?

उत्तर - उपचरितसद्भूतव्यवहारनय से।

प्रश्न 159 - केवलीभगवान को केवलदर्शन और केवलज्ञान है — इस कथन को किस नय से कहेंगे?

उत्तर - अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय से।

प्रश्न 160 - उपयोग अधिकार की तीनों गाथाओं का सार क्या है?

उत्तर – 'शुद्ध दर्शन-ज्ञान' त्रिकाली ज्ञायक का आश्रय ले तो कुमति-कुश्रुतादि का अभाव करके, साधकदशा के मति-श्रुतादि को प्रगट करके, क्रम से केवलज्ञान-केवलदर्शन प्रगट करे – यह उपयोग अधिकार की इन तीन गाथाओं का सार है।

प्रश्न 161 – श्रीपरमात्मप्रकाश, गाथा 107 में इन भेदों के विषय में क्या बताया है?

उत्तर – मतिज्ञानादि पाँच विकल्परहित जो 'परमपद' है, वह साक्षात् मोक्ष का कारण है।

प्रश्न 162 – श्रीसमयसार, गाथा 204 में इन भेदों के विषय में क्या बताया है?

उत्तर – 'जिसमें समस्त भेद दूर हुए हैं – ऐसे आत्मस्वभावभूत ज्ञान का ही अवलम्बन लेना चाहिए। ज्ञानसामान्य के अवलम्बन से ही (1) निजपद की प्राप्ति होती है; (2) भ्रान्ति का नाश होता है; (3) जीवतत्त्व का लाभ होता है; (4) अनात्मा (अजीवतत्त्व) का परिहार सिद्ध होता है; (5) द्रव्यकर्म-नोकर्म-भावकर्म बलवान नहीं होते हैं; (6) राग-द्वेष-मोह उत्पन्न नहीं होते, अर्थात् आस्रव उत्पन्न नहीं होता है; (7) राग-द्वेष-मोह के बिना पुनः कर्मास्रव उत्पन्न नहीं होता, अर्थात् संवर उत्पन्न होता है; (8) कर्मबन्ध नहीं होता, अर्थात् बन्ध का अभाव होता है; (9) पूर्वबद्ध कर्म, भुक्त होकर निर्जरा को प्राप्त हो जाते हैं; (10) फिर समस्त कर्मों का अभाव होने से साक्षात मोक्ष होता है; इसलिए शुद्ध-दर्शन-ज्ञानरूप निज सामान्यस्वभाव को ही परमार्थ कहा है।'

प्रश्न 163 – जो मति-श्रुतादि भेदों को जानकर, शान्ति मानता है और अपने आत्मा का आश्रय नहीं लेता है, उसे तत्त्वार्थसूत्र में क्या कहा है?

उत्तर - 'उन्मत्तवत्' कहा है।

प्रश्न 164 - जीव को मति-श्रुतज्ञान और चक्षु-अचक्षु-दर्शन होते हैं, इसमें कौनसा नय लागू पड़ेगा?

उत्तर - उपचरितसद्भूतव्यवहारनय लागू पड़ता है, किन्तु कुमति-कुश्रुत-कुअवधि ज्ञान के लिए उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय लागू पड़ता है।

प्रश्न 165 - कोई चतुर कहता है कि मैं शुद्ध दर्शनज्ञानवाला हूँ - ऐसे अभेद निश्चयनय का तो श्रद्धान करता हूँ और व्यवहारनय से मैं मति-श्रुत और चक्षु-अचक्षुदर्शनवाला हूँ - ऐसे भेदरूप व्यवहार की प्रवृत्ति करता हूँ, परन्तु आपने हमारे निश्चयव्यवहार दोनों को झूठा बता दिया तो हम किस प्रकार समझे कि हमारा माना हुआ निश्चय-व्यवहार सत्यार्थ कहलावे?

उत्तर - (1) मैं शुद्ध ज्ञान-दर्शनवाला हूँ - ऐसा अभेदरूप निश्चयनय से जो निरुपण किया हो, उसे तो सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अङ्गीकार करना, (2) और मैं, मति-श्रुतज्ञान; चक्षु-अचक्षुदर्शनवाला हूँ - ऐसा व्यवहारनय से जो निरुपण किया हो, उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना।

प्रश्न 166 - मैं मति-श्रुतज्ञान, चक्षु-अचक्षुदर्शनवाला हूँ - ऐसे भेदरूप व्यवहारनय के त्याग करने का और मैं शुद्ध दर्शन-ज्ञानवाला हूँ - ऐसे अभेदरूप निश्चयनय को अङ्गीकार करने का आदेश भगवान अमृतचन्द्राचार्य ने कहीं दिया है?

उत्तर - (1) श्री समयसार, कलश 173 में आदेश दिया है कि मिथ्यादृष्टि की ऐसी मान्यता है कि निश्चय से मैं शुद्ध ज्ञान-दर्शनवाला हूँ और व्यवहारनय से मैं मति-श्रुतज्ञान; चक्षु-अचक्षुदर्शनवाला हूँ, यह मिथ्या अध्यवसाय है और ऐसे-ऐसे समस्त अध्यवसानों को

छोड़ना, क्योंकि मिथ्यादृष्टि को अभेद निश्चय और भेद व्यवहार होता ही नहीं है, ऐसा अनादि से जिनेन्द्रभगवान की दिव्यध्वनि में आया है। (2) स्वयं अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि- मैं ऐसा मानता हूँ - ज्ञानियों को, उपचरितसद्भूतव्यवहारनय से मैं मति-श्रुत, चक्षु-अचक्षुदर्शनवाला हूँ - ऐसा भेदरूप पराश्रितव्यवहार होता है, सो सर्व ही छुड़ाया है, तो फिर सन्त पुरुष, शुद्ध ज्ञान-दर्शनरूप निश्चय को ही अङ्गीकार करके, शुद्ध ज्ञानघनरूप निज महिमा में स्थिति करके क्यों केवलज्ञान-केवलदर्शनादि प्रगट नहीं करते हैं। ऐसा कहकर आचार्य भगवान ने खेद प्रगट किया है।

प्रश्न 167 - मैं शुद्ध ज्ञान-दर्शनवाला हूँ - ऐसे अभेदरूप निश्चयनय को अङ्गीकार करने और मैं मति-श्रुतज्ञान; चक्षु-अचक्षुदर्शनवाला हूँ -ऐसे भेदरुप व्यवहारनय के त्याग के विषय में भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने क्या कहा है ?

उत्तर - (1) श्री मोक्षप्राभृत, गाथा 31 में कहा है कि - मैं मति-श्रुतज्ञान; चक्षु-अचक्षुदर्शनवाला हूँ ऐसे भेदरूप व्यवहारनय की श्रद्धान छोड़कर, मैं शुद्ध-ज्ञान-दर्शनवाला हूँ - ऐसे अभेदरूप निश्चयनय की श्रद्धा करता है, वह योगी अपने आत्मकार्य में जागता है। (2) मैं मति-श्रुतज्ञान; चक्षु-अचक्षुदर्शनवाला हूँ - ऐसे भेदरुप व्यवहारनय में जागता हूँ, वह अपने आत्मकार्य में सोता है। (3) इसलिए मैं मति-श्रुतज्ञान; चक्षु-अचक्षुदर्शनवाला हूँ- ऐसे भेदरुप व्यवहारनय का श्रद्धान छोड़कर, मैं शुद्ध ज्ञान-दर्शनवाला हूँ - ऐसे अभेदरूप निश्चयनय का श्रद्धान करना योग्य है।

प्रश्न 168 - मैं मति-श्रुतज्ञान; चक्षु-अचक्षुदर्शनवाला हूँ - ऐसे भेदरुप व्यवहारनय का श्रद्धान छोड़कर, मैं शुद्ध ज्ञान-दर्शनवाला हूँ - ऐसे अभेदरुप निश्चयनय का श्रद्धान करना क्यों योग्य है।

उत्तर - (1) **व्यवहारनय** - मैं, शुद्ध ज्ञान-दर्शनवाला-अभेदवस्तु, यह स्वद्रव्य का भाव; मैं, मति-श्रुतज्ञान; चक्षु-अचक्षुदर्शनवाला, यह परद्रव्य का भाव; इस प्रकार स्व के भाव और परद्रव्य के भाव को किसी को किसी में मिलाकर निरुपण करता है; अतः मैं मति-श्रुतज्ञान; चक्षु-अचक्षुदर्शनवाला हूँ - ऐसे भेदरूप व्यवहारनय के श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है; इसलिए उसका त्याग करना (2) **निश्चयनय** - स्वद्रव्य के भावों को और परद्रव्य के भावों को यथावत निरुपण करता है; किसी को किसी में नहीं मिलाता है; अतः मैं शुद्ध दर्शन-ज्ञानवाला हूँ - ऐसे अभेदरूप निश्चयनय के श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है, इसलिए उसका श्रद्धान अङ्गीकार करना।

प्रश्न 169 - आप कहते हो - मैं मति-श्रुतज्ञान; चक्षु-अचक्षुदर्शनवाला हूँ - ऐसे भेदरूप व्यवहारनय के श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है; इसलिए उसका त्याग करना और मैं शुद्ध ज्ञान-दर्शनवाला हूँ - ऐसे अभेदरूप निश्चयनय के श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; इसलिए उसका श्रद्धान करना, परन्तु जिनमार्ग में तो निश्चय-व्यवहार दोनों नयों का ग्रहण करना कहा है, उसका क्या कारण है ?

उत्तर - (1) जिनमार्ग में कहीं, मैं शुद्ध ज्ञान-दर्शनवाला हूँ — ऐसे अभेदरूप निश्चयनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ ऐसे ही है'— ऐसा जानना, तथा (2) कहीं मैं मति-श्रुतज्ञान; चक्षु-अचक्षुदर्शनवाला हूँ - ऐसे भेदरूप व्यवहारनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है, उसे 'ऐसे है नहीं, भेदरूप व्यवहारनय की अपेक्षा निरुपण किया है'— ऐसा जानना। (3) मैं मति-श्रुतज्ञान; चक्षु-अचक्षु दर्शनवाला नहीं हूँ; मैं तो शुद्ध ज्ञान-दर्शनवाला

हूँ; इस प्रकार जानने का नाम ही निश्चय-व्यवहार दोनों नयों का ग्रहण है।

प्रश्न 170 - कुछ मनीषी ऐसा कहते हैं कि मैं मति-श्रुतज्ञान; चक्षु-अचक्षुदर्शनवाला भेदरूप भी हूँ और मैं शुद्ध ज्ञान-दर्शनवाला अभेदरूप भी हूँ - इस प्रकार हम अभेद-भेदरूप निश्चय-व्यवहार दोनों नयों का ग्रहण करते हैं — क्या उन महानुभावों का ऐसा कहना गलत है।

उत्तर - हाँ, बिल्कुल ही गलत है, क्योंकि ऐसे महानुभावों को जिनेन्द्रभगवान की आज्ञा का पता नहीं है तथा उन महानुभावों ने अभेद-भेद, निश्चय-व्यवहार दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जान करके, व्यवहार से मैं मति-श्रुतज्ञान; चक्षु-अचक्षुदर्शनवाला भी हूँ और निश्चय से मैं शुद्ध ज्ञान-दर्शनवाला भी हूँ - इस प्रकार भ्रमरूप प्रवर्तन से तो अभेद-भेद, निश्चय-व्यवहार दोनों नयों का ग्रहण करना जिनवाणी में नहीं कहा है।

प्रश्न 171 - मैं मति-श्रुतज्ञान; चक्षु-अचक्षुदर्शनवाला हूँ - यदि ऐसा भेदरूप व्यवहारनय असत्यार्थ है तो उसका उपदेश जिनवाणी में किसलिए दिया ? मैं शुद्ध ज्ञान-दर्शनवाला हूँ - एकमात्र ऐसे अभेदरूप निश्चयनय का ही निरुपण करना था ?

उत्तर - (1) ऐसा ही तर्क समयसार में किया है। वहाँ उत्तर दिया है कि जिस प्रकार म्लेच्छ को म्लेच्छभाषा बिना, अर्थ ग्रहण कराने को कोई समर्थ नहीं है; उसी प्रकार मैं मति-श्रुतज्ञान; चक्षु -अचक्षुदर्शनवाला हूँ - ऐसे भेदरूप व्यवहार के बिना, मैं शुद्ध ज्ञान -दर्शनवाला हूँ - ऐसे अभेद परमार्थ का उपदेश अशक्य है; इसलिए मैं मति-श्रुतज्ञान; चक्षु-अचक्षुदर्शनवाला हूँ - ऐसे भेदरूप उपचरित -असद्भूतव्यवहारनय का उपदेश है। (2) मैं शुद्ध ज्ञान-दर्शनवाला

हूँ- ऐसे अभेदरूप निश्चय का ज्ञान कराने के लिए, मैं मति -श्रुतज्ञान; चक्षु-अचक्षुदर्शनवाला हूँ — ऐसे भेदरूप व्यवहार का उपदेश है। भेदरूप व्यवहारनय है, उसका उपदेश भी है, जाननेयोग्य है, परन्तु भेदरूप व्यवहारनय अङ्गीकार करने योग्य नहीं है।

प्रश्न 172 - मैं मति-श्रुतज्ञान; चक्षु-अचक्षुदर्शनवाला हूँ - ऐसे भेदरूप व्यवहारनय के बिना, मैं शुद्ध-ज्ञान दर्शनवाला हूँ - ऐसे अभेदरूप निश्चयनय का उपदेश कैसे नहीं होता है।

उत्तर - शुद्ध निश्चयनय से मैं शुद्ध ज्ञान-दर्शनवाला हूँ। उसे जो नहीं पहचानते, उनसे इसी प्रकार कहते रहे, तब तो वे समझ नहीं पायें; इसलिए उनको अभेद वस्तु में भेद उत्पन्न करके, मति-श्रुतज्ञान; चक्षु-अचक्षुदर्शनवाला जीव है, ऐसे जीव के विशेष किए, तब मति-श्रुतज्ञान; चक्षु-अचक्षुदर्शनवाला जीव है- इत्यादि पर्यायसहित उनको जीव की पहचान हुई, इस प्रकार, मैं मति-श्रुतज्ञान; चक्षु -अचक्षुदर्शनवाला हूँ - ऐसे भेदरूप व्यवहार के बिना, अभेदरूप निश्चय का उपदेश न होना जानना।

प्रश्न 173 - मैं मति-श्रुतज्ञान; चक्षु-अचक्षुदर्शनवाला हूँ - ऐसे भेदरूप व्यवहारनय को कैसे अङ्गीकार नहीं करना, सो समझाइये ?

उत्तर - मुझ शुद्ध ज्ञान-दर्शनरूप अभेद आत्मा में मति-श्रुतज्ञान; चक्षु-अचक्षुदर्शनरूप भेद किए, सो आत्मा को भेदरूप ही नहीं मान लेना, क्योंकि मैं मति-श्रुतज्ञान; चक्षु-अचक्षुदर्शनवाला हूँ - ऐसे भेद तो समझाने के अर्थ किये हैं। निश्चय से आत्मा, शुद्ध ज्ञान-दर्शनवाला अभेद ही है, उसी को जीव वस्तु मानना। संज्ञा-संख्या-लक्षण आदि से भेद कहे, सो कथनमात्र ही हैं; परमार्थ से भिन्न-भिन्न नहीं हैं - ऐसा ही श्रद्धान करना। इस प्रकार मैं मति-श्रुत, चक्षु-अचक्षुदर्शनवाला हूँ — ऐसे भेदरूप व्यवहाररूप अङ्गीकार करने योग्य नहीं है।

प्रश्न 174 - मैं मति-श्रुतज्ञान; चक्षु-अचक्षुदर्शनवाला हूँ - ऐसे भेदरूप व्यवहारनय के कथन को ही जो सच्चा मान लेता है, उस जीव को जिनवाणी में किस-किस नाम से सम्बोधित किया है ?

उत्तर - ऐसे जीव को — (1) पुरुषार्थसिद्धियुपाय, श्लोक 6 में कहा है— 'तस्य देशना नास्ति'। (2) श्रीसमयसार, कलश, 55 में कहा है — 'यह उसका अज्ञान-मोह अन्धकार है, उसका सुलटना दुर्निवार है'। (3) श्रीप्रवचनासार, गाथा 55 में कहा है— 'वह पद-पद पर धोखा खाता है'। (4) श्री आत्मावलोकन में कहा है — 'यह उसका हरामजादीपना है।'

प्रश्न 175 - उपयोग अधिकार की गाथा 4 से 6 तक भेदों में हेय-ज्ञेय-उपादेय समझाइये ?

उत्तर - (1) शुद्ध दर्शन-ज्ञान त्रिकाली स्वभाव, आश्रय करनेयोग्य परम उपादेय है। (2) कुमति-कुश्रुत-कुअवधि ज्ञान; चक्षु-अचक्षु -दर्शन आदि हेय हैं। (3) साधकदशा के मति-श्रुत-अवधि -मन:पर्ययज्ञान; चक्षु-अचक्षु-अवधिदर्शन, एकदेश प्रगट करनेयोग्य उपादेय हैं। (4) केवलज्ञान-केवलदर्शन पूर्ण प्रगट करनेयोग्य पूर्ण उपादेय है।

अमूर्तिकत्व अधिकार

वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे।
णो संति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बंधादो ॥7॥

गाथार्थ :- निश्चय से जीव में पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्श नहीं हैं; अत: जीव अमूर्तिक है; व्यवहारनय की अपेक्षा से कर्मबन्ध होने से जीव मूर्तिक है।

प्रश्न 176 - प्रत्येक जीव का स्वभाव कैसा है ?

उत्तर - प्रत्येक जीव, अनादि-अनन्त अवर्ण-अगन्ध-अरस-अस्पर्श-अशब्द आदि अनन्त गुणों का पुञ्ज है; इसलिए प्रत्येक जीव हर समय अमूर्तिक ही है।

प्रश्न 177 - संसारदशा में जीव कैसा कहने में आता है?

उत्तर - संसारदशा में अनादि से मूर्तिक पुद्गलकर्मों के साथ उसका बन्ध है; इसलिए संयोग का ज्ञान कराने के लिए उसे मूर्तिक कहा जाता है परन्तु मूर्तिक है नहीं।

प्रश्न 178 - यदि कोई जीव को मूर्तिक ही माने तो क्या दोष आवेगा?

उत्तर - जीव-अजीव का भेद ही नहीं रहेगा।

प्रश्न 179 - जीव को संसारदशा में मूर्तिक किस नय से कहा जा सकता है?

उत्तर - अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से कहा जा सकता है कि जीव, मूर्तिक है।

प्रश्न 180 - अमूर्त किसे कहते हैं?

उत्तर - जिनमें आठ स्पर्श, पाँच रस, दो गन्ध और पाँच वर्ण न हों, उसे अमूर्त कहते हैं।

नोट - आठ स्पर्श, पाँच रस, दो गन्ध और पाँच वर्ण का स्पष्टीकरण जैन सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला में विश्व के पाठ में देखना चाहिए।

प्रश्न 181 - इस गाथा में निश्चयनय-व्यवहारनय क्या बतलाता है?

उत्तर - (1) निश्चनयनय, जीव की त्रैकालिक अमूर्तिकता को बतलाता है। (2) व्यवहारनय, पुद्गलकर्म के साथ का अनादि

सम्बन्ध बतलाता है। इन दोनों नयों का विषय, परस्पर विरोधी है, परन्तु उसके एक साथ रहने में विरोध नहीं है।

प्रश्न 182 – तीसरी गाथा में और इस गाथा में क्या अन्तर है ?

उत्तर – तीसरी गाथा में पुद्गलप्राणों के साथ का व्यवहार सम्बन्ध बतलाया है और इस सातवीं गाथा में पुद्गलकर्म के साथ का व्यवहार सम्बन्ध बतलाया है।

प्रश्न 183 – अमूर्तिक अधिकार को जानने का क्या लाभ होना चाहिए ?

उत्तर – (1) पुद्गलद्रव्यकर्म से मुझ आत्मा का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है; इसलिए मुझे वह हानि-लाभ नहीं कर सकता है। (2) अपने अमूर्तिक त्रैकालिक ध्रुवस्वभाव का आश्रय करने से ही धर्म की शुरुआत, वृद्धि और पूर्णता होती है। (3) आत्मा में पूर्ण शुद्धता होने पर पुद्गलकर्म के साथ का आत्यन्तिक वियोग होकर, आत्मा में सिद्धदशा प्रकट हो जाती है।

प्रश्न 184 – इस अमूर्तिक अधिकार में हेय-ज्ञेय-उपादेय समझाइये ?

उत्तर – (1) अस्पर्श, अरस, अगन्ध, अवर्ण, अशब्दरूप अमूर्तिक त्रिकाली ध्रुवस्वभाव, आश्रय करने योग्य परम उपादेय है। (2) अमूर्त त्रिकाली स्वभाव के आश्रय से प्रगट शुद्धपर्यायें, प्रगट करनेयोग्य उपादेय हैं। (3) साधकदशा में जितना अस्थिरता का राग है, वह हेय है। (4) द्रव्यकर्म का सम्बन्ध, व्यवहार से ज्ञान का ज्ञेय है।

प्रश्न 185 – छहढ़ाला में अमूर्तिक को किस नाम से सम्बोधन किया है और उसका अर्थ क्या है ?

उत्तर - (1) 'बिनमूरत' नाम से सम्बोधन किया है। (2) 'बिनमूरत' अर्थात्, आँख-नाक-कान औदारिक आदि शरीरोंरूप मेरी मूर्ति नहीं है।

कर्ता अधिकार

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥8॥

गाथार्थ :- आत्मा, व्यवहारनय से पुद्गलकर्मादि का कर्ता है, निश्चयनय से चेतनकर्मों का कर्ता है और शुद्धनय से शुद्धभावों का कर्ता है।

प्रश्न 186 - कर्तृत्व और अकर्तृत्व क्या है ?

उत्तर - ये सामान्यगुण हैं, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य में पाये जाते हैं।

प्रश्न 187 - कर्तृत्व और अकर्तृत्वगुण क्या बतलाते हैं ?

उत्तर - (1) प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी अवस्था का कर्ता है, यह कर्तृत्वगुण बतलाता है। और (2) पर की अवस्था का कर्ता नहीं हो सकता है - यह अकर्तृत्वगुण बतलाता है।

प्रश्न 188 - कर्तृत्व और अकर्तृत्वगुण के कारण जीव किसका कर्ता है और किसका कर्ता नहीं है ?

उत्तर - (1) चैतन्यस्वभाव के कारण जीव, ज्ञप्ति तथा दृशि क्रिया का कर्ता है; द्रव्यकर्म-नोकर्म का कर्ता नहीं है। (2) अज्ञानदशा में शुभाशुभ विकारीभावों का कर्ता है; विकारीभावों के निमित्तरूप द्रव्यकर्म-नोकर्म का कर्ता सर्वथा नहीं है। (3) जीव, हस्तादि शरीर की क्रिया का कर्ता तो कदापि नहीं है।

प्रश्न 189 - जीव, घट-पट, रोटी खाने, बालने आदि का कर्ता कहा जाता है, वह किस अपेक्षा से है ?

उत्तर - जीव को अत्यन्त भिन्न वस्तुओं का कर्ता उपचरितअसद्भूत -व्यवहारनय से कहा जाता है; कर्ता है नहीं।

प्रश्न 190 - औदारिक, वैक्रियिक, आहारक इन तीन शरीरों का, आहारादि छह पर्याप्ति योग्य पुद्गलपिण्डरूप नोकर्मों का तथा ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का कर्ता, जीव को किस अपेक्षा से कहा जाता है ?

उत्तर - अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से कर्ता कहा जाता है; कर्ता है नहीं।

प्रश्न 191 - जीव, शुभाशुभविकारी भावों का कर्ता किस अपेक्षा से कहा जाता है ?

उत्तर - उपचरितसद्भूतव्यवहारनय से कहा जाता है।

प्रश्न 192 - शुद्धभावों का कर्ता, जीव को किस अपेक्षा कहा जाता हैं ?

उत्तर - अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय से।

प्रश्न 193 - जीव, अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय से किस का कर्ता है, समझाइये ?

उत्तर - संवर-निर्जरा-मोक्ष; निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र; निश्चयप्रतिक्रमण-आलोचना- प्रत्याख्यान; ध्यान, भक्ति, समाधि आदि समस्त शुद्धभावों का कर्ता है क्योंकि यह सब वीतरागी क्रियाएँ हैं।

प्रश्न 194- कर्ता अधिकार की आठवीं गाथा में हेय-ज्ञेय-उपादेय लगाकर समझाइये ?

उत्तर - (1) कर्तृत्व-अकर्तृत्वगुणरूप त्रिकाली आत्मा, आश्रय करनेयोग्य परम उपादेय है। (2) त्रिकाली आत्मा के आश्रय से जो

शुद्धदशा प्रगटी, वह प्रगट करनेयोग्य उपादेय है। (3) साधकदशा में जो व्यवहार रत्नत्रयादि के विकल्प हैं, वे हेय हैं। (4) द्रव्यकर्म-नोकर्मादि सब व्यवहारनय से ज्ञेय है।

प्रश्न 195 - जीव, द्रव्यकर्म-नोकर्म का कर्ता तो कदापि नहीं है - ऐसा कहीं श्रीसमयसार में बताया है?

उत्तर - श्रीसमयसार की 85-86 गाथा में, जो द्रव्यकर्म-नोकर्म का कर्ता, जीव को मानता है, वह सर्वज्ञ के मत से बाहर है और वह द्विक्रियावादी है — ऐसा कहा है।

प्रश्न 196 - जो द्रव्यकर्म-नोकर्म का कर्ता, जीव को मानता है, उसे छहढ़ाला में क्या कहा है?

उत्तर - उसे बहिरात्मा के नाम से सम्बोधन किया है।

प्रश्न 197 - कर्ता-अधिकार का सार क्या है?

उत्तर - नित्य-निरञ्जन-निष्क्रिय-निजात्मा त्रिकाली द्रव्य का आश्रय लेकर, पर्याय मे शुद्धभावों का कर्ता बने — यही सार है।

प्रश्न 198- कुम्हार ने घड़ा बनाया - इस वाक्य पर निमित्त-कारण की परिभाषा लगाकर समझाइये?

उत्तर - कुम्हार स्वयं स्वतः घड़ेरूप नहीं परिणमें, परन्तु घड़े की उत्पत्ति में अनुकूल होने का जिस कुम्हार पर आरोप आ सके, उस कुम्हार को घड़ा बनने के कार्य का निमित्तकारण कहते हैं।

प्रश्न 199 - कुम्हार ने घड़ा बनाया - इस वाक्य पर निमित्त-नैमित्तिक को समझाइये?

उत्तर - मिट्टी जब स्वयं स्वतः घड़ेरूप परिणमित होती है, तब कुम्हार के राग का / निमित्त का, घड़े के साथ सम्बन्ध है, यह बतलाने के लिए घड़े को नैमित्तिक कहते हैं। इस प्रकार कुम्हार का

राग और घड़े के स्वतन्त्रसम्बन्ध को निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध कहते हैं।

विवहारा सुहदुक्खं पुग्गलकम्मप्फलं पभुंजेदि।
आदा णिच्छयणयदो चेदणभावं खु आदस्स ॥9॥

गाथार्थ :- व्यवहारनय से आत्मा, सुख-दुःखरूप पुद्गलकर्म के फल को भोगता है और निश्चयनय से अपने चेतनभाव को भोगता है।

प्रश्न 200 - भोक्तृत्व-अभोक्तृत्व क्या हैं ?

उत्तर - सामान्यगुण हैं क्योंकि ये सब द्रव्यों में पाये जाते हैं।

प्रश्न 201 - भोक्तृत्व-अभोक्तृत्वगुण क्या बतलाते हैं ?

उत्तर - (1) प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी अवस्था का भोगता है, यह भोक्तृत्वगुण बतलाता है, और (2) पर की अवस्था का भोक्ता नहीं हो सकता है, वह अभोक्तृत्वगुण बतलाता है।

प्रश्न 202 - भोक्तृत्व-अभोक्तृत्व सामान्यगुण के कारण, जीव किसका भोक्ता है और किसका भोक्ता नहीं है ?

उत्तर - (1) अज्ञानदशा में जीव, हर्ष-विषादरूप, अर्थात सुख-दुःख विकारीभावों का भोक्ता है किन्तु विकारीभावों के निमित्तरूप द्रव्यकर्म-नोकर्म का भोक्ता सर्वथा नहीं है। (2) साधकदशा में अतीन्द्रियसुख का अंशतः भोक्ता है। (3) केवलज्ञानादि होने पर परिपूर्ण सुख का भोक्ता है। (4) जीव, पुद्गलकर्मों के अनुभाग का या परपदार्थों का भोक्ता किसी भी अपेक्षा नहीं है।

प्रश्न 203 - जीव, अत्यन्त भिन्न परपदार्थों का भोक्ता है - ऐसा किस अपेक्षा से कहा जाता है ?

उत्तर - यह उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से कहा जाता है, किन्तु वास्तव में परपदार्थों का भोक्ता नहीं है।

प्रश्न 204 – जीव, औदारिक आदि शरीर, पाँच इन्द्रियों तथा आठ द्रव्यकर्मों का भोक्ता किस अपेक्षा कहा जाता है?

उत्तर – अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से कहा जाता है, किन्तु वास्तव में शरीर, इन्द्रियों तथा कर्मों का भोक्ता नहीं है।

प्रश्न 205 – जब जीव, अत्यन्त भिन्न परपदार्थ, शरीर, इन्द्रियाँ तथा द्रव्यकर्मों का भोक्ता सर्वथा नहीं है, तब आगम में उनका भोक्ता क्यों कहा जाता है?

उत्तर – जीव का भाव, उस समय निमित्त होने से इनका भोक्ता है – ऐसा कहा जाता है।

प्रश्न 206 – जीव को हर्ष-विषाद, सुख-दुःखरूप विकारीभावों का भोक्ता किस अपेक्षा से आगम में कहा है?

उत्तर – उपचरित सद्भूत व्यवहारनय से कहा है।

प्रश्न 207 – साधकदशा में जीव, अतीन्द्रियसुख का भोक्ता है – यह किस अपेक्षा से कहा जाता है?

उत्तर – यह अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से कहा जाता है।

प्रश्न 208 – केवलज्ञानी अपने परिपूर्ण सुख के भोक्ता हैं – किस अपेक्षा से कहा जाता है?

उत्तर – यह अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय से कहा जाता है।

प्रश्न 209 – भोक्तृत्व अधिकार में हेय-ज्ञेय-उपादेय किस प्रकार है?

उत्तर – (1) भोक्तृत्व-अभोक्तृत्वरूप त्रिकाली आत्मा, आश्रय करनेयोग्य परम उपादेय है। (2) साधकदशा में अतीन्द्रियसुख का अंशतः भोक्ता है और यह एक देश प्रगट करनेयोग्य उपादेय है। (3) केवली परिपूर्ण अतीन्द्रियसुख के भोक्ता हैं – यह पूर्ण भोगने

की अपेक्षा पूर्ण उपादेय है। (4) साधक को अस्थिरता सम्बन्धी सुख-दुःख, हेय हैं। (5) साता-असाता के अनुभाग का फल तथा अत्यन्त भिन्न परपदार्थ, इन्द्रियाँ आदि व्यवहार से ज्ञान का ज्ञेय हैं।

प्रश्न 210 - भोक्तृत्व अधिकार का सार क्या है?

उत्तर - जीव, यथार्थ वस्तुस्वरूप को जानकर, पर की और विकार की कर्तृत्व और भोक्तृत्व बुद्धि छोड़कर, अपने सहज निर्विकार चिदानन्दस्वरूप शुद्धपर्याय का कर्ता-भोक्ता होने का प्रयत्न करे — यह इस अधिकार का सार है।

स्वदेह परिणाामत्व अधिकार

अणुगुरुदेहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा।
असमुहदो ववहारा णिच्छयणयदो असंखदेसो वा ॥10॥

गाथार्थ :- समुद्घात के अतिरिक्त यह जीव, व्यवहारनय की अपेक्षा से संकोच-विस्तार के कारण अपने छोटे अथवा बड़े शरीरप्रमाण रहता है और निश्चयनय की अपेक्षा से असंख्यातप्रदेशी है।

प्रश्न 211 - प्रत्येक जीव का स्वक्षेत्र क्या है?

उत्तर - प्रत्येक जीव का स्वक्षेत्र, लोकाकाश जितना असंख्यात प्रदेशवाला है। प्रदेशों की संख्या सदैव उतनी की उतनी ही रहती है, क्योंकि स्वचतुष्टय ही एक अखण्डद्रव्य है।

प्रश्न 212 - क्या छह द्रव्यों में से किसी द्रव्य के क्षेत्र में खण्ड-टुकड़े हो सकते हैं?

उत्तर - बिल्कुल नहीं हो सकते हैं, क्योंकि सभी मूलद्रव्य अखण्ड हैं; उसी प्रकार प्रत्येक जीव भी अखण्डद्रव्य हैं; इसलिए उसके खण्ड, छेदन, टुकड़े कदापि नहीं हो सकते हैं।

प्रश्न 213 – प्रत्येक द्रव्य के स्वक्षेत्र से क्या सिद्ध होता है ?

उत्तर – प्रत्येक द्रव्य का क्षेत्र पृथक्-पृथक् है; इसलिए जीव के क्षेत्र में अन्य कोई द्रव्य प्रवेश नहीं कर सकता है और जीव भी किसी दूसरे के क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकता है।

प्रश्न 214 – पुद्गलस्कन्ध के तो खण्ड, छेदन, टुकड़े हो जाते हैं, तब सभी मूलद्रव्य अखण्ड हैं, यह बात कहाँ रही ?

उत्तर – पुद्गलस्कन्ध, मूलद्रव्य नहीं है; मूलद्रव्य तो परमाणु है।

प्रश्न 215 – प्रदेशत्वगुण क्या है और क्या बताता है ?

उत्तर – (1) प्रदेशत्वगुण, सामान्यगुण है। (2) प्रदेशत्वगुण के कारण प्रत्येक द्रव्य का अपना-अपना आकार होता है।

प्रश्न 216 – जीव के क्षेत्र का आकार तो छोटा-बड़ा देखने में आता है ?

उत्तर – जीव के प्रदेश, संख्या अपेक्षा लोकप्रमाण असंख्यात ही रहते हैं, किन्तु संसारदशा में वे प्रदेश अपने कारण से संकोच-विस्तार को प्राप्त होते हैं; इस कारण संसारदशा में जीव का आकार एक-सा नहीं रहता है।

प्रश्न 217 – जीव के साथ शरीर का संयोग होता है, तब तो शरीर के कारण ही जीव का आकार बदलता होगा ?

उत्तर – बिल्कुल नहीं; जीव के साथ संयोगरूप जो शरीर है, उसके आकार के अनुसार जीव का अपना आकार अपने कारण से होता है; शरीर के कारण नहीं होता है।

प्रश्न 218 – समुद्घात किसे कहते हैं और कितने हैं ?

उत्तर – मूलशरीर को छोड़े बिना, आत्मप्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना, समुद्घात कहलाता है। समुद्घात के सात भेद हैं –

वेदना, कषाय, विक्रिया, मारणान्तिक, तैजस, आहारक, और केवलीसमुद्घात।

प्रश्न 219 - वेदनासमुद्घात किसे कहते हैं ?

उत्तर - अधिक दु:ख की दशा में मूलशरीर को छोड़े बिना, जीव के प्रदेशों का बाहर निकलना, वेदनासमुद्घात है।

प्रश्न 220 - कषायसमुद्घात किसे कहते हैं ?

उत्तर - क्रोधादि तीव्र कषाय के उदय से, धारण किये हुए शरीर को छोड़े बिना, आत्मप्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना, कषायसमुद्घात है।

प्रश्न 221 - विक्रियासमुद्घात किसे कहते हैं ?

उत्तर - विविध क्रिया करने के लिए मूलशरीर को छोड़े बिना, आत्मप्रदेशों का बाहर निकलना, विक्रियासमुद्घात है।

प्रश्न 222 - मारणान्तिकसमुद्घात किसे कहते हैं ?

उत्तर - जीव, मृत्यु के समय तत्काल ही शरीर को नहीं छोड़ता, किन्तु शरीर में रहकर ही अन्य जन्म स्थान को स्पर्श करने के लिए आत्मप्रदेशों का बाहर निकलना, मारणान्तिक समुद्घात है।

प्रश्न 223 - तैजससमुद्घात के कितने भेद हैं ?

उत्तर - दो भेद हैं - शुभतैजस और अशुभतैजस।

प्रश्न 224 - शुभतैजससमुद्घात किसे कहते हैं ?

उत्तर - जगत को रोग या दुर्भिक्ष से दु:खी देखकर, महामुनि को दया उत्पन्न होने से, जगत का दु:ख दूर करने के लिए, मूलशरीर को छोड़े बिना ही तपोबल से दाहिने कन्धे में से पुरुषाकार सफेद पुतला निकलता है और दु:ख दूर करके पुन: शरीर में प्रवेश करता है, उसे शुभतैजससमुद्घात कहते हैं।

प्रश्न 225 - अशुभतैजससमुद्घात किसे कहते हैं?

उत्तर - अनिष्टकारक पदार्थों को देखकर, मुनियों के मन में क्रोध उत्पन्न होने से, उनके बायें कन्धे से बिलाब के आकार का सिन्दूरी रंग का पुतला निकलता है। वह, जिस पर क्रोध हुआ हो, उसका नाश करता है और साथ ही उस मुनि का भी नाश करता है, उसे अशुभतैजससमुद्घात कहते हैं।

प्रश्न 226 - आहारकसमुद्घात किसे कहते हैं?

उत्तर - छठवें गुणस्थानवर्ती, परम ऋद्धिधारी किसी मुनि के तत्त्वसम्बन्धी शङ्का उत्पन्न होने पर, अपने तपोबल से, मूल-शरीर को छोड़े बिना, मस्तक में से एक हाथ जितना पुरुषाकार सफेद और शुभ पुतला निकलता है। वह केवली या श्रुतकेवली के पास जाता है, वहाँ उनका चरणस्पर्श होते ही अपनी शङ्का का निवारण करके, पुनः अपने स्थान में प्रवेश करता है।

प्रश्न 227 - केवलीसमुद्घात किसे कहते हैं?

उत्तर - केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद, मूलशरीर को छोड़े बिना दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण क्रिया करते हुए केवली के आत्मप्रदेशों का फैलना, केवलीसमुद्घात है।

प्रश्न 228 - केवलीसमुद्घात किसे होता है?

उत्तर - केवलीसमुद्घात सभी केवलियों को नहीं होता है, किन्तु जिन्हें केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद छह मास नहीं हुए हों उन्हें; तथा छह मास के बाद भी चार अघातियाकर्मों में से आयुकर्म की स्थिति अल्प हो, तो उन्हीं को नियम से केवलीसमुद्घात होता है।

प्रश्न 229 - जीव के प्रदेशों का आकार, शरीराकार किस अपेक्षा से कहा जाता है?

उत्तर - अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से कहा जाता है, है नहीं।

प्रश्न 230 - जीव, समुद्घात करता है, यह किस नय से कहा जाता है?

उत्तर - अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से कहा जाता है।

प्रश्न 231 - जीव, निश्चयनय से कैसा है?

उत्तर - जीव के जो असंख्यात प्रदेश है, उनकी वह संख्या सदा उतनी ही रहती है, किसी भी समय एक भी प्रदेश कम-बढ़ नहीं होता है। जीव के प्रदेशों की संख्या, लोकप्रमाण असंख्यात है; इसलिए निश्चय से जीव, असंख्यात प्रदेशी है।

प्रश्न 232 - स्वदेह परिमाणत्व अधिकार में हेय-ज्ञेय-उपादेयपना किस प्रकार है?

उत्तर - (1) जीव, संख्या अपेक्षा लोकप्रमाण असंख्यात प्रदेशी है, वह आश्रय करनेयोग्य परम उपादेय है। (2) उसके आश्रय से जो शुद्ध वीतरागीदशा प्रगटी, वह प्रगट करनेयोग्य उपादेय है। (3) शरीर व कर्म का संयोगसम्बन्ध व्यवहार से ज्ञान का ज्ञेय है। (4) जो अशुद्धदशा है, वह हेय है।

प्रश्न 233 - दसवीं गाथा का मर्म क्या है?

उत्तर - जीव को देह के साथ अपनेपने की मान्यता अनादि से है। इसी मान्यता से संसार में परिभ्रमण करता हुआ दुःखी रहता है; इसलिए देहादिक को पृथक जानकर, निर्मोहरूप निज शुद्ध आत्मा का आश्रय लेकर, सुख प्रगट करना चाहिए।

प्रश्न 234 - जीव के असंख्यात प्रदेशों में क्या-क्या भरा हुआ है?

उत्तर – ज्ञान–दर्शन आदि अनन्त गुण भरे हैं।

प्रश्न 235 – आत्मा को 'शून्य' क्यों कहा जाता है?

उत्तर – रागादि विभावपरिणामों की अपेक्षा से आत्मा को शून्य कहा जाता है परन्तु बौद्धमत के समान अनन्त ज्ञानादि गुणों की अपेक्षा से शून्य नहीं है।

प्रश्न 236 – आत्मा को जड़ क्यों कहा जाता है?

उत्तर – बाह्य विषयवाले इन्द्रियज्ञान का अभाव होने की अपेक्षा से आत्मा को जड़ कहा जाता है परन्तु सांख्यमत की मान्यता के अनुसार, सर्वथा जड़–ज्ञानशून्य नहीं है।

प्रश्न 237 – इस दसवीं गाथा में 'अणु' मात्र शरीर कहा है – इससे क्या तात्पर्य है?

उत्तर – 'अणु' शब्द से उत्सेध घनांगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण लब्धि–अपर्याप्तक निगोद का शरीर समझना परन्तु पुद्गलपरमाणु नहीं समझना।

प्रश्न 238 – इस गाथा 'गुरु' शब्द से क्या समझना चाहिए?

उत्तर – 'गुरु शरीर' शब्द से एक हजार योजन प्रमाण महामत्स्य का शरीर समझना और मध्यम अवगाहन द्वारा मध्यम शरीर समझना।

प्रश्न 239 – संकोच-विस्तार को समझाइये?

उत्तर – जैसे, दूध में डाला गया पद्मरागमणि अपनी कान्ति से दूध को प्रकाशित करता है; वैसे ही संसारी जीव अपने शरीरप्रमाण ही रहता है। गरम करने से दूध में उफान आता है, तब दूध के साथ पद्मरागमणि की कान्ति भी बढ़ती जाती है। इसी प्रकार ज्यों–ज्यों शरीर पुष्ट होता है, त्यों–त्यों उसके साथ ही साथ आत्मा के प्रदेश भी फैल जाते हैं और जब शरीर दुर्बल हो जाता है, तब जीव के प्रदेश

भी संकुचित हो जाते हैं — ऐसा स्वतन्त्रतरूप निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध है। *[श्री पञ्चास्तिकाय, गाथा 33]*

संसारित्व अधिकार

पुढविजलतेयवाऊ वणप्फदी विविहथावरेइंदी।
विगतिगचदुपंचक्खा तसजीवा होंति संखादी॥11॥

गाथार्थ :- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति आदि विविध प्रकार के स्थावर, एकेन्द्रिय जीव हैं और शंखादि दो, तीन, चार तथा पाँच इन्द्रियवाले त्रसजीव हैं।

प्रश्न 240 - जीव, वास्तव में कैसा है?

उत्तर - अतीन्द्रिय अमूर्त निज परमात्मस्वभावी है।

प्रश्न 241 - जीवों के कितने भेद हैं?

उत्तर - दो भेद हैं - सिद्ध और संसारी।

प्रश्न 242 - सिद्ध जीव कैसे हैं?

उत्तर - सिद्ध जीव, परिपूर्ण सुखी है।

प्रश्न 243 - संसारी के कितने भेद हैं?

उत्तर - तीन भेद हैं - (1) बहिरात्मा, (2) अन्तरात्मा, और (3) परमात्मा।

प्रश्न 244 - विश्व में दु:खी कौन है?

उत्तर - मात्र मिथ्यामान्यताओं के कारण, चारों गतियों के बहिरात्मा जीव, परिपूर्ण दु:खी ही हैं।

प्रश्न 245 - बहिरात्मा दु:खी क्यों हैं?

उत्तर - विश्व के पदार्थ व्यवहारनय से मात्र ज्ञेय हैं परन्तु बहिरात्मा ऐसा न मानकर, परपदार्थों में इष्ट-अनिष्टबुद्धि होने के कारण ही दु:खी है।

प्रश्न 246 – बहिरात्मा के दु:ख को स्पष्ट समझाइये ?

उत्तर – आत्मा का स्वभाव, ज्ञाता–दृष्टा है सो स्वयं केवल देखने जाननेवाला तो रहता नहीं है, जिन पदार्थों को देखता–जानता है, उनमें इष्ट–अनिष्टपना मानता है; इसलिए रागी–द्वेषी होकर किसी का सद्भाव चाहता है, किसी का अभाव चाहता है परन्तु उसका सद्भाव या अभाव इसका किया हुआ होता नहीं, क्योंकि कोई द्रव्य, किसी द्रव्य का कर्ता–हर्ता है नहीं; सर्व द्रव्य अपने–अपने स्वभावरूप परिणमित होते हैं। यह बहिरात्मा, वृथा ही कषायभाव से आकुलित होता है।

प्रश्न 247 – अन्तरात्मा की क्या दशा है ?

उत्तर – अन्तरात्मा अपनी शुद्धतानुसार सुखी है।

प्रश्न 248 – अरहन्त परमात्मा कैसे हैं ?

उत्तर – अरहन्तभगवान परिपूर्ण सुखी हैं।

प्रश्न 249 – संसारी जीवों के दूसरी तरह से कितने भेद हैं ?

उत्तर – दो भेद हैं – स्थावर और त्रस।

प्रश्न 250 – स्थावरजीव कौन हैं ?

उत्तर – सभी एकेन्द्रिय जीव, स्थावरजीव हैं, वे पाँच प्रकार के हैं। पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, और वनस्पतिकाय।

प्रश्न 251 – त्रसजीव कौन हैं ?

उत्तर – दो इन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक के जीव, त्रस हैं।

प्रश्न 252 – शास्त्रों में स्थावर-त्रस ऐसे भेद क्यों किये हैं ?

उत्तर – जीव तो औदारिक आदि शरीर, इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न है; अपने ज्ञान–दर्शनादि स्वभाव से अभिन्न है, उसका ज्ञान कराने के लिए व्यवहारनय से त्रस–स्थावर ऐसे भेद किए हैं।

प्रश्न 253 - श्री पञ्चास्तिकाय, गाथा 121 में इस विषय में क्या बताया है ?

उत्तर - शास्त्रकथित यह काय, इन्द्रियाँ, मन-सब पुद्गल की पर्यायें हैं; जीव नहीं है, किन्तु उनमें रहनेवाला जो ज्ञान-दर्शन है, वह जीव है — ऐसा जानना चाहिए।

प्रश्न 254 - जीव, स्थावर किस अपेक्षा कहा जाता है ?

उत्तर - अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से जीव, स्थावर कहा जाता है।

प्रश्न 255 - जीव, त्रस किस अपेक्षा से कहा जाता है ?

उत्तर - अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से जीव, त्रस कहा जाता है।

प्रश्न 256 - जीवों के तीन प्रकार कौन-कौन से हैं ?

उत्तर - (1) असिद्ध, (2) नो सिद्ध, और (3) सिद्ध।

प्रश्न 257 - असिद्ध में कौन जीव आते हैं ?

उत्तर - निगोद से लगाकर चारों गतियों के जीव, जब तक निश्चयसम्यग्दर्शन न हो, तब तक वे सब असिद्ध ही हैं।

प्रश्न 258 - नो सिद्ध जीव में कौन आते हैं ?

उत्तर - नो का अर्थ अल्प है। चौथे गुणस्थान से जीव को 'नो सिद्ध' कहा जाता है; इसलिए अन्तरात्मा को ईषत् सिद्ध, अर्थात् 'नो सिद्ध' कहा जाता है।

प्रश्न 259 - सिद्ध कैसे हैं ?

उत्तर - रत्नत्रय प्राप्त सिद्ध हैं।

प्रश्न 260 - शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावी होने पर भी जीव, स्थावर-त्रस क्यों होता है ?

उत्तर - अपने शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव को भूलकर, इन्द्रियसुखों में रुचिपूर्वक आसक्त होकर त्रस-स्थावर जीवों का घात करता है; इसलिए त्रस-स्थावर होता है।

प्रश्न 261 - त्रस-स्थावर न बनना पड़े, उसके लिए क्या करना चाहिए ?

उत्तर - अपने एक शुद्ध-बुद्धस्वभाव का आश्रय लेकर धर्म की प्राप्ति करे तो त्रस-स्थावर न होकर, क्रम से मोक्ष की प्राप्ति हो।

प्रश्न 262 - मनुष्यभव व दिगम्बरधर्म प्राप्त होने पर भी क्या यह जीव, पृथ्वीकाय कहला सकता है ?

उत्तर - (1) जैसे, हम पृथ्वीकाय पर चलते हैं, दबने से वह दुःख का अनुभव करता है, लेकिन कुछ कह नहीं सकता है; उसी प्रकार मनुष्यभव व दिगम्बरधर्म प्राप्त होने पर भी, मैं सब को दबाऊँ और कोई मेरे सामने एक शब्द भी उच्चारण न कर सके — ऐसा भाव करता है, वह उस समय पृथ्वीकाय ही है क्योंकि जैसी मति, वैसी गति होती है। (2) यदि ऐसे भाव के समय, आयुबन्ध हो गया तो 'पृथ्वीकाय' की योनि में जाना पड़ेगा, जहाँ निरन्तर तुझे सब दबायेंगे और तू एक शब्द भी उच्चारण नहीं कर सकेगा।

प्रश्न 267 - कोई कहे हमें पृथ्वीकाय न बनना पड़े, तो उसका क्या उपाय है ?

उत्तर - मैं सब को दबाऊँ और मेरे सामने कोई एक शब्द भी उच्चारण न कर सके — ऐसे भावरहित शुद्ध-बुद्ध अस्पर्शस्वभावी निज भगवान है, उसका आश्रय ले तो भगवानपना पर्याय में प्रगट हो जाएगा और पृथ्वीकाय नहीं बनना पड़ेगा।

प्रश्न 268 - मनुष्यभव व दिगम्बरधर्म प्राप्त होने पर भी क्या यह जीव, जलकाय कहला सकता है ?

उत्तर - (1) जैसे, तालाब का पानी ऊपर से देखने पर एक जैसा लगता है, लेकिन कहीं दो गज का खड्डा है, कहीं तीन गज का खड्डा है, कहीं ऊँचा है, कहीं नीचा है; उसी प्रकार मनुष्यभव व दिगम्बरधर्म होने पर भी ऊपर से चिकनी-चुपड़ी बातें करता है, अन्दर कपट रखता है। वह जीव उस समय 'जलकाय' ही है, क्योंकि 'जैसी मति, वैसी गति' होती है। (2) ऐसे भाव के समय यदि आयु का बन्ध हो गया तो 'जलकाय' की योनि में जाना पड़ेगा।

प्रश्न 269 - कोई कहे हमें 'जलकाय' की योनि में नहीं जाना पड़े, तो उसका कोई उपाय है?

उत्तर - छल-कपटरहित तेरी आत्मा का स्वभाव है, उसका आश्रय ले तो जलकाय की योनि में नहीं जाना पड़ेगा, बल्कि मुक्तिरूपी सुन्दरी का नाथ बन जावेगा।

प्रश्न 270 - मनुष्यभव व दिगम्बरधर्म प्राप्त होने पर भी क्या यह जीव, अग्निकाय कहला सकता है?

उत्तर - जैसे, रोटी बनाने के बाद तवे को उतारते हैं तो तवे में टिम-टिम चिंगारियाँ दिखती है, तो लोग कहते हैं कि तवा हँसता है, परन्तु वह वास्तव में अग्निकाय के जीव हैं; उसी प्रकार मनुष्यभव व दिगम्बरधर्म प्राप्त होने पर भी, दूसरों को बढ़ता हुआ देखकर जो ईर्ष्या करता है, उस समय वह जीव 'अग्निकाय' ही है, क्योंकि 'जैसी मति, वैसी गति' होती है। (2) यदि उस समय आयु का बन्ध हो गया तो 'अग्निकाय' की योनि में जाना पड़ेगा, जहाँ निरन्तर जलने में ही जीवन बीतेगा।

प्रश्न 271 - कोई कहे, अरे भाई! हमें 'अग्निकाय' की योनि में न जाना पड़े-ऐसा कोई उपाय है?

उत्तर - ईर्ष्यारहित तेरा त्रिकाली स्वभाव है, उसका आश्रय ले

तो अग्निकाय की योनि में नहीं जाना पड़ेगा, बल्कि पर्याय में तीन लोक का नाथ बन जाएगा।

प्रश्न 272 - दिगम्बरधर्म व मनुष्यभव प्राप्त होने पर भी, क्या यह जीव 'वायुकाय' कहला सकता है?

उत्तर - जैसे, हवा के झोंके कभी तेज, कभी मन्द चलते रहते हैं, स्थिर नहीं रहते हैं; उसी प्रकार जो, मनुष्यभव व दिगम्बरधर्म प्राप्त होने पर भी, जहाँ पर जन्म-मरण के अभाव की बात चलती है, उसके बदले अन्य बात का विचार करता है, ऊँघता है या अन्य अस्थिरता करता है, वह जीव उस समय वायुकाय ही है, क्योंकि 'जैसी मति, वैसी गति' होती है। (2) यदि अस्थिरता के भावों के समय आयु का बन्ध हो गया तो 'वायुकाय' की योनि में जाना पड़ेगा, जहाँ निरन्तर अस्थिरता ही बनी रहेगी।

प्रश्न 273 - कोई कहे - हमें वायुकाय नहीं बनना है, तो हम क्या करें?

उत्तर - अस्थिरता के भावों से रहित, परमपारिणामिकभाव है, उसकी ओर दृष्टि करे तो वायुकाय की योनि में नहीं जाना पड़ेगा, बल्कि क्रम से पूर्ण क्षायिकपना प्रगट करके पूर्ण सुखी हो जाएगा।

प्रश्न 274 - दिगम्बरधर्म व मनुष्यभव प्राप्त होने पर भी क्या यह जीव 'वनस्पतिकाय' कहला सकता है, और यह वनस्पतिकाय में क्यों जाता है?

उत्तर - जैसे, बाजार से सब्जी लाते हैं, आप उसे चाकू से काटते हैं, वह आपसे कुछ नहीं कहती है; उसी प्रकार मनुष्यभव पाने पर भी 'मैं दूसरों को ऐसा मारूँ, वह एक पग भी न चल सके' — ऐसा भाव करता है, वह उस समय वनस्पतिकाय ही है, क्योंकि 'जैसी मति, वैसी गति' होती है।' (2) यदि ऐसे भावों के समय आयु का

बन्ध हो गया तो वनस्पतिकाय की योनि में जाना पड़ेगा, जहाँ एक-एक समय करके निरन्तर दुःख उठाना पड़ेगा।

प्रश्न 275 - कोई कहे हमें 'वनस्पतिकाय' में न जाना पड़ता, इसका कोई उपाय है ?

उत्तर - मैं सबको मारूँ और वह एक पग भी आगे न बढ़े सके —ऐसे-ऐसे भावों से रहित, तेरी आत्मा का अस्पर्शस्वभाव है, उसका आश्रय ले तो वनस्पतिकाय की योनि में नही जाना पड़ेगा- बल्कि गुणस्थान, मार्गणास्थान से रहित परमपद को प्राप्त करेगा।

प्रश्न 276 - ज्ञानी, त्रस-स्थावर में क्यों उत्पन्न नहीं होते हैं ?

उत्तर - अपने शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव का आश्रय होने से तथा विषयों में सुख-अभिलाषा की बुद्धि न होने कारण ज्ञानी जीव, त्रस-स्थावर में उत्पन्न नहीं होते हैं।

प्रश्न 277 - संसार परिभ्रमण की मूलभूत भूल क्या है ?

उत्तर - एकमात्र एक शुद्ध-बुद्ध निज आत्मा की दृष्टि न करना ही स्वयं की भूल है, उसका कारण - कर्म या परवस्तु या ईश्वर नहीं है।

प्रश्न 278 - यदि सिद्ध जीव न माना जावे, तो क्या दोष उत्पन्न होगा ?

उत्तर - (1) यदि सिद्ध जीव न हो तो जीवों की संसारी अवस्था भी साबित नहीं होगी, क्योंकि संसारीदशा का प्रतिपक्षभाव सिद्धदशा है। (2) यदि जीव के संसारदशा ही नहीं होगी तो फिर धर्म करने और अधर्म को दूर करने का पुरुषार्थ ही नहीं रहेगा।

चौदह जीव समास

समणा अमणा णेया पंचिंदिय णिम्मणा परे सव्वे।
बादरसुहमेइंदी सव्वे पज्जत्त इदरा य॥12॥

गाथार्थ :- पंचेन्द्रिय जीव, संज्ञी और असंज्ञी - ऐसे दो प्रकार के जानना। शेष सब जीव, मनरहित असंज्ञी हैं। एकेन्द्रिय जीव, बादर और सूक्ष्म दो प्रकार के हैं। ये सब जीव, पर्याप्त और अपर्याप्त होते हैं।

प्रश्न 279 - जीवसमास किसे कहते हैं?

उत्तर - जिसके द्वारा अनेक प्रकार के जीव के भेद जाने जा सके, उसे जीवसमास कहते हैं।

प्रश्न 280 - जीवसमास कितने और कौन-कौन से हैं?

उत्तर - जीवसमास चौदह होते हैं — (1) एकेन्द्रिय बादर, (2) एकेन्द्रिय सूक्ष्म, (3) दो इन्द्रिय, (4) तीन इन्द्रिय, (5) चार इन्द्रिय, (6) असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय और (7) संज्ञी पञ्चेन्द्रिय। इन सातों के पर्याप्त और अपर्याप्त भेद मिलाकर, चौदह जीवसमास होते हैं।

प्रश्न 281 - बादर एकेन्द्रिय जीव किसे कहते हैं?

उत्तर - जो दूसरों को बाधा देते हैं और स्वयं बाधा को प्राप्त होते हैं और जो किसी पदार्थ के आधार से रहते हैं, उन्हें बादर एकेन्द्रिय जीव कहते हैं।

प्रश्न 282 - सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव किसे कहते हैं?

उत्तर - जो समस्त लोकाकाश में फैले हुए हैं, जो किसी को बाधा नहीं पहुँचाते और स्वयं किसी से बाधा को प्राप्त नहीं होते हैं, उन्हें सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव कहते हैं।

प्रश्न 283 - एकेन्द्रिय जीव के बादर, सूक्ष्म, दो इन्द्रिय जीव, तीन इन्द्रिय जीव, चार इन्द्रिय जीव, पाँच इन्द्रिय असैनी जीव और पाँच इन्द्रिय सैनी जीव - क्या इन सात प्रकार के जीवों के भी कुछ भेद हैं?

उत्तर - हाँ है। ये सातों पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से 14 भेद हैं।

प्रश्न 284 - पर्याप्त और अपर्याप्त से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर - जैसे-मकान, घड़ा, वस्त्रादि वस्तुएँ पूर्ण और अपूर्ण होती हैं; उसी प्रकार ये सात प्रकार के जीव भी पर्याप्त और अपर्याप्त होते हैं।

प्रश्न 285 - पर्याप्ति कितनी होती हैं ?

उत्तर - छह होती हैं - आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वास, भाषा और मन।

प्रश्न 286 - एकेन्द्रिय जीव के कितनी पर्याप्ति होती हैं ?

उत्तर - चार होती है :— आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वास।

प्रश्न 287 - दो इन्द्रिय जीवों से लेकर असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों तक के कितनी-कितनी पर्याप्ति होती हैं ?

उत्तर - प्रत्येक को पाँच-पाँच पर्याप्ति होती हैं। आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वास, और भाषा।

प्रश्न 288 - संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव के कितनी पर्याप्ति होती हैं ?

उत्तर - छहों ही होती हैं - आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वास, भाषा, और मन।

प्रश्न 289- यह पर्याप्तियाँ कब पूर्ण होती हैं ?

उत्तर - एक अन्तर्मूहर्त में पूर्ण हो जाती हैं।

प्रश्न 290 - अपर्याप्तक जीव की क्या दशा है ?

उत्तर - अपर्याप्तक जीव, एक श्वास में अठारह बार जन्म-मरण करता है।

प्रश्न 291 - श्वास किसे कहते हैं ?

उत्तर - निरोगी पुरुष की एक बार नाड़ी चलने में जितना समय लगता है, उसे श्वास कहते हैं।

प्रश्न 292 - श्वास की संख्या का माप क्या है?

उत्तर - अड़तालीस मिनट में तीन हजार सात सौ तिहत्तर श्वास होते हैं।

प्रश्न 293- पर्याप्तियों से क्या सिद्ध होता है?

उत्तर - जैसे, संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव जब-जब जहाँ पर उत्पन्न होता है, वहाँ पर इन सब पर्याप्तियों की शुरुआत एक साथ होती है, लेकिन पूर्णता क्रम से होती हैं; उसी प्रकार सम्यग्दर्शन होने पर सर्व गुणों में अंशरूप से शुद्धता एक साथ प्रगट हो जाती है, परन्तु पूर्णता क्रम से होती है। (1) सम्यग्दर्शन, चौथे गुणस्थान में पूर्ण हो जाता है। (2) चारित्र, बारहवें गुणस्थान में पूर्ण हो जाता है। (3) ज्ञान-दर्शन-वीर्य की पूर्णता, तेरहवें गुणस्थान के शुरुआत में हो जाती है। (4) योग की पूर्णता, चौदहवें गुणस्थान में होती है।

प्रश्न 294 - जीव, पर्याप्त और अपर्याप्त होते हैं — यह किस अपेक्षा से कहा जा सकता है?

उत्तर - अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से कहा जा सकता है, परन्तु ऐसा है नहीं।

प्रश्न 295 - जीव, संज्ञी व असंज्ञी किस अपेक्षा कहा जा सकता है?

उत्तर - अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से कहा जा सकता है, परन्तु है नहीं — ऐसा जानना।

प्रश्न 296 - पर्याप्त और अपर्याप्त में हेय-ज्ञेय-उपादेयपना किस-किस प्रकार है?

उत्तर — (1) पर्याप्त और अपर्याप्त से सर्वथा भिन्न, निज

शुद्धात्मतत्त्व ही आश्रय करनेयोग्य परम उपादेय है। (2) निज शुद्धात्मतत्त्व के आश्रय से जो शुद्धि प्रगटी, वह प्रगट करनेयोग्य उपादेय है। (3) साधकजीव के भूमिकानुसार जो राग है, वह हेय है। (4) पर्याप्ति और अपर्याप्ति-ये सब व्यवहारनय से ज्ञान का ज्ञेय है।

प्रश्न 297 - पर्याप्तियों का कर्ता कौन है और कौन नहीं है ?

उत्तर - पर्याप्तियों का कर्ता पुद्गल है और पर्याप्ति उसका कर्म है। जीव से इनका सर्वथा कर्ता-कर्मसम्बन्ध नहीं है।

प्रश्न 298 - जीवसमास की बारहवीं गाथा का तात्पर्य क्या है ?

उत्तर - पर्याप्तियों और प्राणों से सर्वथा भिन्न, निज शुद्धात्मतत्त्व ही आश्रय करनेयोग्य परम उपादेय है।

जीव के दूसरे भेद

मग्गणगुणठाणेहि य चउदसहि हवंति तह असुद्धणया।
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया॥13॥

गाथार्थ :- सर्व संसारी जीव, अशुद्धनय से मार्गणास्थान और गुणस्थान की अपेक्षा से चौदह-चौदह प्रकार के हैं। शुद्धनय से यथार्थ में सब संसारी जीव, शुद्ध जानना।

प्रश्न 299 - बृहद द्रव्यसंग्रह की इस गाथा के शीर्षक में क्या कहा है ?

उत्तर - 'अब, शुद्ध-पारिणामिक-परमभाव ग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से जीव शुद्ध-बुद्ध-एक-स्वभाववाले हैं, तो भी पश्चात् अशुद्धनय से चौदह मार्गणास्थान और चौदह गुणस्थानसहित होते हैं - इस प्रकार प्रतिपादन करते हैं।'

प्रश्न 300 - शुद्ध द्रव्यार्थिक और अशुद्धनयों का विषय

एक ही साथ होने पर भी (प्रथम) शुद्ध द्रव्यार्थिकनय और 'पश्चात् अशुद्धनय' - ऐसा क्यों कहा है?

उत्तर - (1) शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषय एक ही आश्रय करने योग्य है, क्योंकि उसके आश्रय से ही जीव के धर्मरूप शुद्धपर्याय प्रगट होती है और उसी के आश्रय से ही वृद्धि करके पूर्णता की प्राप्ति होती है। (2) अशुद्धनय के विषय के आश्रय से जीव के अशुद्धपर्याय प्रगट होती है, इसलिए उसका आश्रय छोड़नेयोग्य है। — ऐसा बताने के लिए शास्त्रों में शुद्ध द्रव्यार्थिकनय को प्रथम और अशुद्धनय / व्यवहारनय को पश्चात् कहा गया है।

प्रश्न 301 - शुद्ध पारिणामिकभाव का क्या अर्थ है?

उत्तर - पारिणामिक का अर्थ, सहजस्वभाव है। उत्पाद-व्ययरहित ध्रुव एकरूप स्थिर रहनेवाला पारिणामिकभाव है।

प्रश्न 302 - पारिणामिकभाव किस जीव को होता है?

उत्तर - निगोद से लगाकर सिद्धदशा तक सभी जीवों में 'त्रिकाल (अनादि अनन्त) ध्रुवरूप से शक्तिरूप से शुद्ध है' — यह होता है। कहा गया है कि 'पारिणामिक भाव के बिना कोई जीव नहीं है।'

प्रश्न 303 - क्या पारिणामिकभाव में बाकी चार भाव नहीं है?

उत्तर - नहीं हैं, क्योंकि औदयिक-औपशमिक-क्षायोपशमिक और क्षायिक - इन चार भावों से रहित जो भाव है, वह पारिणामिकभाव है।

प्रश्न 304 - पारिणामिकभाव में औपशमिक आदि चार भाव क्यों नहीं आते हैं?

उत्तर - (1) औपशमिकादि चार भावों में उदय-उपशम-क्षयोपशम-क्षय, जिसका निमित्तकारण है - ऐसे चार भाव हैं,

और जिसमें कर्मोपाधिरूप निमित्त किंचितमात्र नहीं है, मात्र द्रव्य -स्वभाव ही जिसका कारण है — ऐसा एक पारिमाणिकभाव है, (2) औपशमिकादि चार भाव, पर्यायरूप हैं और पारिणामिकभाव, पर्यायरहित हैं; इसलिए चार भावों में पारिणामिकभाव नहीं आता है।

प्रश्न 305 - इन पाँच भावों को 'परम' और 'अपरम' क्यों कहा जाता है?

उत्तर - (1) पारिणामिकभाव त्रिकाल शुद्ध और परम है; इसलिए शुद्ध पारिणामिकभाव को 'परमभाव' कहते हैं, क्योंकि इसके आश्रय से ही शुद्धपर्याय प्रगट-वृद्धि और पूर्णता होती है। (2) दूसरे औपशमिकादि चार भावों को 'अपरमभाव' कहते हैं क्योंकि इनके आश्रय से जीव में अशुद्धपर्याय प्रगट होती है।

प्रश्न 306 - समस्त कर्मरूपी विषवृक्ष को उखाड़ फैंकने में कौनसा भाव समर्थ है?

उत्तर - परमभाव पारिणामिक, त्रिकाल शुद्ध है। यह परमभाव ही समस्त कर्मरूपी विषवृक्ष को उखाड़ फैंकने में समर्थ है।

प्रश्न 307 - इस गाथा में 'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया' से क्या तात्पर्य है?

उत्तर - शुद्धनय से सभी जीव वास्तव में शुद्ध हैं। यहाँ शुद्धनय का अर्थ द्रव्यार्थिकनय है - इस दृष्टि से देखने पर सभी जीव शुद्ध ज्ञायकभाव के धारक है।

प्रश्न 308 - इस गाथा में अशुद्धनय का वर्णन क्या बतलाने के लिए किया गया है?

उत्तर - उन पर्यायों को जीव स्वयं स्वतः पर से निरपेक्षतया करता है। कर्म का निमित्त होने पर भी, कर्म उन्हें कराता नहीं है - यह बतलाने के लिए अशुद्धनय का वर्णन इस गाथा में किया है।

प्रश्न 309 - मार्गणास्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर - जिन-जिन धर्म विशेषों से जीवों का अन्वेषण (खोज) किया जाता है, उन-उन धर्म विशेषों को मार्गणास्थान कहते हैं।

प्रश्न 310 - मार्गणास्थान के कितने भेद हैं ?

उत्तर - चौदह भेद हैं (1) गति, (2) इन्द्रिय, (3) काय, (4) योग, (5) वेद, (6) कषाय, (7) ज्ञान, (8) संयम, (9) दर्शन, (10) लेश्या, (11) भव्यत्व, (12) सम्यक्त्व, (13) संज्ञित्व, (14) आहारत्व।

प्रश्न 311 - चौदह मार्गणा किस नय से कही जाती हैं और किस नय से नहीं हैं ?

उत्तर - ये सब निज त्रिकाल शुद्ध आत्मा में शुद्ध निश्चयनय के बल से नहीं हैं; अशुद्धनय से कही जाती हैं।

प्रश्न 312 - चौदह मार्गणाओं में 'गतिमार्गणा' बतलाने के पीछे क्या मर्म है ?

उत्तर - (1) नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव नाम की चार गतियाँ हैं। (2) चारों गतियों सम्बन्धी शरीर भी है। (3) चारों गतियों सम्बन्धी द्रव्यकर्म का उदय निमित्त भी है। (4) चारों गतियों सम्बन्धी भाव भी हैं। (5) परन्तु निज भगवान का गतिरहित अगतिस्वभाव है। (6) उसका आश्रय लेकर, अन्तरात्मा बनकर, क्रम से परमात्मा बने —यह मर्म है।

प्रश्न 313 - (1) आत्मा चार गतियों के शरीरवाला है। (2) आत्मा को चार गति सम्बन्धी द्रव्यकर्म का उदय होता है। यह किस अपेक्षा से कहा जाता है ?

उत्तर - अनुपचरितअसद्‌भूतव्यवहारनय से कहा जाता है, परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि आत्मा तो अगतिस्वभाववाला है।

प्रश्न 314 - आत्मा के चार गति सम्बन्धी भाव होते हैं - यह किस अपेक्षा कहा जाता है ?

उत्तर - उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से कहा जाता है।

प्रश्न 315 - मार्गणाओं में 'इन्द्रियमार्गणा' बतलाने के पीछे क्या मर्म है ?

उत्तर - (1) एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिरिन्द्रय, और पञ्चेन्द्रियरूप पाँच जड़इन्द्रियाँ हैं। (2) पाँच इन्द्रियों सम्बन्धी द्रव्यकर्म का उदय भी है। (3) इन्द्रियों सम्बन्धी ज्ञान का उघाड़ भी है। (4) परन्तु निज भगवान आत्मा, इन्द्रियों से रहित अतीन्द्रियस्वभाववाला है। (5) उसका आश्रय लेकर, पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट होवे — यह मर्म है।

प्रश्न 316 - आत्मा, पाँच जड़ इन्द्रियोंवाला है; आत्मा को जड़इन्द्रियों सम्बन्धी द्रव्यकर्म का उदय है — यह किस अपेक्षा से कहा जाता है ?

उत्तर - अपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से कहा जाता है, परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि आत्मा तो अतीन्द्रियस्वभाववाला है।

प्रश्न 317 - आत्मा को इन्द्रियों सम्बन्धी ज्ञान का उघाड़ है, - यह किस अपेक्षा से कहा जाता है।

उत्तर - उपचरितसद्भूतव्यवहारनय से कहा जाता है।

प्रश्न 318 - मार्गणाओं में 'कायमार्गणा' बतलाने के पीछे क्या मर्म है ?

उत्तर - (1) पृथ्वीकाय, जलकाय, तेजकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, और त्रसकाय के भेद से छह काय प्रकार की हैं। (2) आत्मा के कायसम्बन्धी शरीर है। (3) आत्मा के कायसम्बन्धी

द्रव्यकर्म का उदय भी है। (4) आत्मा के कायसम्बन्धी ज्ञान का उघाड़ भी है, (5) परन्तु आत्मा, काय से रहित अकायस्वभाववाला है। (6) उसका आश्रय लेकर, पर्याय में अकायपना प्रगट होवे — यह मर्म है।

प्रश्न 319 - (1) आत्मा, पृथ्वी आदि कायवाला है। (2) आत्मा को कायसम्बन्धी द्रव्यकर्म का उदय है — यह किस अपेक्षा कहा ज्ञाता है?

उत्तर - अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से कहा जाता है, परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि आत्मा तो अकायस्वभाववाला है।

प्रश्न 320 - आत्मा को कायसम्बन्धी ज्ञान का उघाड़ है - यह किस अपेक्षा कहा जाता है?

उत्तर - उपचरितसद्भूतव्यवहारनय से कहा जाता है।

प्रश्न 321 - मार्गणाओं में 'योगमार्गणा' बतलाने के पीछे क्या मर्म है?

उत्तर - (1) मन, वचन, और काययोग के भेद से योगमार्गणा के तीन प्रकार हैं। (2) विस्तार से (अ) सत्य, असत्य, उभय, और अनुभयरूप से मनोयोग, चार प्रकार का है। (आ) सत्य, असत्य, उभय, और अनुभयरूप से वचनयोग, चार प्रकार का है। (इ) औदारिक, मिश्र, और कार्मण-ये काययोग के सात प्रकार हैं। इस प्रकार सब मिलकर पन्द्रह प्रकार की योगमार्गणा है। (3) आत्मा के मन-वचन-कायसम्बन्धी जड़योग का सम्बन्ध है। (4) आत्मा के जड़योग सम्बन्धी द्रव्यकर्म का उदय भी है। (5) आत्मा के मन-वचन-सम्बन्धी प्रदेशों में कम्पन भी है। (6) परन्तु भगवान आत्मा का अयोगस्वभाव त्रिकाल पड़ा है। (7) उसका आश्रय लेकर पर्याय में अयोगीपना प्रगट होवे — यह मर्म है।

प्रश्न 322 - (1) आत्मा, जड़मन-वचन-कायसम्बन्धी योगवाला है। (2) आत्मा को जड़मन-वचन-कायसम्बन्धी द्रव्यकर्म का उदय है - यह किस अपेक्षा कहा जाता है ?

उत्तर - अनुपचरितसद्‌भूतव्यवहारनय से कहा जाता है, परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि आत्मा तो अयोगीस्वभाववाला है।

प्रश्न 323 - आत्मा को मन-वचन-कायसम्बन्धी योग का कम्पन है - यह किस अपेक्षा से कहा जाता है ?

उत्तर - उपचरितसद्‌भूतव्यवहारनय से कहा जाता है।

प्रश्न 324 - मार्गणाओं में 'वेदमार्गणा' बतलाने के पीछे क्या मर्म है ?

उत्तर - (1) स्त्रीवेद, पुरुषवेद, और नपुंसकवेद के भेद से वेदमार्गणा के तीन प्रकार हैं। (2) आत्मा के संयोगरूप तीन वेद सम्बन्धी पुद्‌गल का सम्बन्ध है। (3) आत्मा के तीन वेद सम्बन्धी द्रव्यकर्म का उदय भी है। (4) आत्मा में तीन वेद सम्बन्धी राग भी है। (5) परन्तु आत्मा का अवेदस्वभाव त्रिकाल पड़ा है। (6) उसका आश्रय लेकर, पर्याय में अवेदपना प्रगट होवे - यह मर्म है।

प्रश्न 325 - (1) आत्मा, तीन वेद सम्बन्धी पुद्‌गलवाला है। (2) आत्मा के तीन वेद सम्बन्धी द्रव्यकर्म का उदय है। यह किस अपेक्षा कहा जाता है ?

उत्तर - अनुपचरितअसद्‌भूतव्यवहारनय से कहा जाता है, परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि आत्मा तो त्रिकाल अवेदस्वभावी है।

प्रश्न 326 - आत्मा के वेदसम्बन्धी राग है - यह किस अपेक्षा कहा जाता है ?

उत्तर - उपचरितसद्‌भूतव्यवहारनय से कहा जाता है।

प्रश्न 327 - मार्गणाओं में 'कषायमार्गणा' बतलाने के पीछे क्या मर्म है?

उत्तर - (1) क्रोध-मान-माया-लोभ के भेद से कषायमार्गणा चार प्रकार की है। विस्तार से (2) अनन्तानुबधी क्रोधादि चार, अप्रत्याख्यान क्रोधादि चार, प्रत्याख्यान क्रोधादि चार, संज्वलन क्रोधादि चार, हास्य-अरति-रति आदि भेद से नो कषाय; इस प्रकार पच्चीस प्रकार की कषायमार्गणा है। (3) पच्चीस कषायसम्बन्धी शरीर की अवस्थाएँ हैं। (4) पच्चीस कषायसम्बन्धी चारित्रमोहनीय द्रव्यकर्म का उदय भी है। (5) पच्चीस कषायसम्बन्धी राग भी है। (6) परन्तु त्रिकाली अकषायस्वभाववाला आत्मा भिन्न त्रिकाल पड़ा है। (7) उसका आश्रय लेकर, पर्याय में स्वरूपाचरणचारित्र, देशचारित्र, सकलचारित्र, यथाख्यातचारित्र प्रगट करके परम यथाख्यातचारित्र प्रगट होवे-यह मर्म है।

प्रश्न 328 - (1) आत्मा को पच्चीस कषायसम्बन्धी शरीर की अवस्था है; कषायसम्बन्धी द्रव्यकर्म का उदय है - यह किस अपेक्षा कहा जाता है?

उत्तर - अनुपचरितअसद्भूतव्यवहारनय से कहा जाता है, परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि आत्मा तो अकषायस्वभाववाला है।

प्रश्न 329 - आत्मा में पच्चीस कषायसम्बन्धी विकारीभाव है- यह किस अपेक्षा कहा जाता है?

उत्तर - उपचरितसद्भूतव्यवहारनय से कहा जाता है।

प्रश्न 330 - मार्गणाओं में 'ज्ञानमार्गणा' बतलाने के पीछे क्या मर्म है?

उत्तर - (1) मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय, और केवलज्ञान तथा कुमति, कुश्रुत और कुअवधि-इस प्रका आठ प्रकार की ज्ञानमार्गणा

है। (2) इन भेदों से रहित त्रिकाल ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा है। (3) उसका आश्रय लेकर, पर्याय में कुमति-कुश्रुत और कुअवधि ज्ञान का अभाव करके, मति-श्रुतादि, ज्ञान प्रगट कर, क्रम से केवलज्ञान की प्राप्ति होवे -यह ज्ञानमार्गणा का मर्म है।

प्रश्न 331 - मार्गणाओं में 'संयममार्गणा' बतलाने के पीछे क्या मर्म है?

उत्तर - (1) सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय, और यथाख्यातरूप से पाँच प्रकार का चारित्र तथा संयमासंयम और असंयम से दो प्रतिपक्षरूप भेद मिलाकर, सात प्रकार की संयममार्गणा है। (2) चारित्रगुणादिरूप त्रिकाल भगवान एकरूप पड़ा है। (3) उसका आश्रय लेकर प्रथम, स्वरूपाचरण-चारित्र की प्राप्ति करके, क्रम से सामायिक आदिरूप चारित्र की बुद्धि करके, यथाख्यातचारित्र की प्राप्ति होवे - यह संयममार्गणा का मर्म है।

प्रश्न 332 - मार्गणाओं में 'दर्शनमार्गणा' के पीछे क्या मर्म है?

उत्तर - (1) चक्षु-अचक्षु-अवधि, और केवलदर्शन के भेद से चार प्रकार की दर्शनमार्गणा है। (2) दर्शनगुणादिरूप त्रिकाली भगवान आत्मा एकरूप पड़ा है। (3) उसका आश्रम लेकर केवलदर्शन की प्राप्ति होवे — यह दर्शनमार्गणा को जानने का मर्म है।

प्रश्न 333- मार्गणाओं में 'लेश्यामार्गणा' बताने के पीछे क्या मर्म है?

उत्तर - (1) परमात्मद्रव्य का विरोध करनेवाली कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म और शुक्ल के भेद से लेश्या छह प्रकार की है, (2) परन्तु अलेश्यास्वरूप त्रिकाली स्वभाव एकरूप पड़ा है,

(3) उसका आश्रय लेकर लेश्याओं का अभाव करके, पूर्ण अलेश्यापना पर्याय में प्रगट होवे- यह लेश्यामार्गणा को जानने का मर्म है।

प्रश्न 334 - मार्गणाओं में 'भव्यमार्गणा' के पीछे क्या मर्म है ?

उत्तर - (1) भव्य और अभव्य के भेद से दो प्रकार की भव्यमार्गणा है। (2) भव्य-अभव्य से रहित, त्रिकाल परमात्मद्रव्य एकरूप पड़ा है, (3) उसका आश्रय लेकर, पर्याय में सिद्धदशा की प्राप्ति होवे - यह भव्य-अभव्यमार्गणा को जानने का मर्म है।

प्रश्न 335 - 14 मार्गणाओं में 'सम्यक्त्व मार्गणा' बताने के पीछे क्या मर्म है ?

उत्तर - (1) औपशमिक, क्षायोपशमिक, और क्षायिकसम्यक्त्व के भेद से तथा मिथ्यादर्शन, सासादन और मिश्र, इन तीन विपरीत भेदोंसहित छह प्रकार की सम्यक्त्वमार्गणा है। (2) श्रद्धागुणसहित अभेद आत्मा, त्रिकाल पड़ा है। (3) उसका आश्रय लेकर मिथ्यादर्शनादि का अभाव करके, प्रथम औपशमिक की प्राप्ति कर, क्षायोपशमिक की प्राप्ति कर, क्षायिकसम्यक्त्व प्रगट होवे- यह सम्यक्त्वमार्गणा को जानने का मर्म है।

प्रश्न 336 - मार्गणाओं में 'संज्ञित्वमार्गणा' बताने के पीछे क्या मर्म है ?

उत्तर - (1) संज्ञी और असंज्ञी के भेद से संज्ञित्वमार्गणा दो प्रकार की है। (2) संज्ञी और असंज्ञी से रहित, निज परमात्मस्वरूप आत्मा एकरूप पड़ा है। (3) उसका आश्रय लेकर, पूर्ण धर्म की प्राप्ति होवे - यह संज्ञित्वमार्गणा को जानने का मर्म है।

प्रश्न 337 - मार्गणाओं में 'आहारमार्गणा' बताने के पीछे क्या मर्म है ?

उत्तर - (1) आहारक और अनाहारक जीवों के भेद से आहारमार्गणा भी दो प्रकार की है। (2) त्रिकाल अनाहारकस्वरूप आत्मस्वभाव शाश्वत् पड़ा है, (3) उसका आश्रय लेकर, मोक्ष की प्राप्ति होवे - यह आहारमार्गणा को जानने का मर्म है।

प्रश्न 338 - गुणस्थान किसे कहते हैं ?

उत्तर - मोह और योग के सद्भाव या अभाव से, जीव के श्रद्धा-चारित्र-योग आदि गुणों की तारतम्यतारूप अवस्था विशेष को गुणस्थान कहते हैं।

प्रश्न 339 - गुणस्थान के कितने भेद हैं ?

उत्तर - चौदह भेद हैं - मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत -सम्यक्त्व, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, संयोगकेवली, और अयोगकेवली।

प्रश्न 340 - मिथ्यात्वगुणस्थान का स्वरूप क्या है ?

उत्तर - (1) सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का विपरीत श्रद्धान, (2) जीवादि तत्त्वों में विपरीत मान्यता, (3) स्व-पर की एकत्वरूप श्रद्धा, (4) अतत्त्व श्रद्धा।

प्रश्न 341 - सासादनगुणस्थान का स्वरूप क्या है ?

उत्तर - सम्यक्त्व को छोड़कर, मिथ्यात्व की ओर जाना।

प्रश्न 342 - मिश्रगुणस्थान का स्वरूप क्या है ?

उत्तर - सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के परिणामों का एक ही साथ होना।

प्रश्न 343 – अविरतसम्यक्त्वगुणस्थान का स्वरूप क्या है ?

उत्तर – सम्यक्त्व तो है ही और साथ में स्वरूपाचरणचारित्र भी है, किन्तु अशक्तिवश किसी प्रकार के निश्चयव्रत और चारित्र को धारण न कर सके।

प्रश्न 344 – देशविरतगुणस्थान का स्वरूप क्या है ?

उत्तर – सम्यक्त्वसहित एकदेश निश्चयचारित्र का पालन करना।

प्रश्न 345 – प्रमत्तविरतगुणस्थान का स्वरूप क्या है ?

उत्तर – सम्यक्त्वचारित्र की भूमिका में अहिंसादि शुभोपयोगरूप महाव्रतों का पालन करता है, यह प्रमाद है। (याद रहे सर्वथा नग्न दिगम्बरदशापूर्वक ही मुनिपद होता है।)

प्रश्न 346 – अप्रमत्तविरतगुणस्थान का स्वरूप क्या है ?

उत्तर – प्रमादरहित होकर, आत्मस्वरूप में सावधान रहना।

प्रश्न 347 – अपूर्वकरणगुणस्थान का स्वरूप क्या है ?

उत्तर – सातवें गुणस्थान से ऊपर, विशुद्धता में अपूर्वरूप से उन्नति करना।

प्रश्न 348 – अनिवृत्तिकारणगुणस्थान का स्वरूप क्या है ?

उत्तर – आठवें गुणस्थान से अधिक उन्नति करना।

प्रश्न 349 – सूक्ष्मसम्परायगुणस्थान का स्वरूप क्या है ?

उत्तर – समस्त कषायों का उपशम अथवा क्षय होना और मात्र संज्वलन लोभकषाय का सूक्ष्मरूप से रहना।

प्रश्न 350 – उपशान्तकषायगुणस्थान का स्वरूप क्या है ?

उत्तर – कषायों का सर्वथा उपशम हो जाना।

प्रश्न 351 – क्षीणकषायगुणस्थान का स्वरूप क्या है ?

उत्तर - कषायों का सर्वथा क्षय हो जाना।

प्रश्न 352 - संयोगकेवलीगुणस्थान का स्वरूप क्या है ?

उत्तर - केवलज्ञान प्राप्त होने पर भी, योग की प्रवृत्ति होना।

प्रश्न 353 - अयोगकेवलीगुणस्थान का स्वरूप क्या है ?

उत्तर - योग की प्रवृत्ति सर्वथा बन्द हो जाना।

प्रश्न 354 - ये चौदह गुणस्थान किस नय से हैं और किस नय से नहीं हैं ?

उत्तर - ये चौदह गुणस्थान, अशुद्धनय से है; शुद्ध निश्चयनय नहीं हैं।

प्रश्न 355 - इस गाथा का तात्पर्य क्या है ?

उत्तर - (1) जीव तो परमार्थ से चैतन्यशक्तिमात्र है। (2) वह अविनाशी होने से शुद्ध पारिणामिकभाव है। वह भाव ही ध्येय (ध्यान करने योग्य) है। (3) किन्तु वह ध्यानरूप नहीं है, क्योंकि ध्यानपर्याय विनश्वर है, और शुद्धपारिणामिकभाव, द्रव्यरूप है, अविनाशी है; इसलिए वही आश्रय करनेयोग्य है - यह गाथा का तात्पर्य है।

नोट - गुणस्थान, मार्गणास्थान, आदि का स्वरूप करणानुयोग के शास्त्रों से विस्तारपूर्वक जाना जा सकता है।

सिद्धत्व-विस्त्रसा उर्ध्वगमनत्व अधिकार

णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता ॥14॥

गाथार्थ :- सिद्धभगवान, कर्मों से रहित हैं, आठ गुणों के धारक हैं, अन्तिम शरीर से कुछ न्यून (कम) आकारवाले हैं, लोक के अग्रभाग में स्थित हैं, नित्य हैं और उत्पाद-व्यय से युक्त हैं।

प्रश्न 356 - इस गाथा में क्या बताया है।

उत्तर - दो अधिकारों का वर्णन किया है (1) सिद्धत्व, (2) उर्ध्वगमन।

प्रश्न 357 - सिद्ध अधिकार में क्या बताया है ?

उत्तर - (1) ज्ञानावरणादि आठ कर्म रहित। (2) सम्यक्त्वादि आठ गुणों सहित। (3) अन्तिम शरीर से कुछ न्यून, सिद्धभगवान हैं।

प्रश्न 358 - ऊर्ध्वगमन अधिकार में क्या बताया है ?

उत्तर - (1) लोक के अग्रभाग में स्थित हैं। (2) नित्य हैं। (3) उत्पाद-व्यय से संयुक्त है - यह ऊर्ध्वगमन अधिकार में बताया है।

प्रश्न 359 - सिद्धों के आठ गुण कौन-कौन से हैं ?

उत्तर - (1) सम्यक्त्व, (2) ज्ञान, (3) दर्शन, (4) वीर्य, (5) सूक्ष्मत्व, (6) अवगाहन, (7) अगुरुलघु, (8) अव्याबाध - इन सर्व गुणों की परिपूर्ण शुद्धपर्यायें सिद्ध के होती हैं।

प्रश्न 360 - क्या सिद्धों में आठ ही गुण होते हैं ?

उत्तर - व्यवहार से आठ गुण और निश्चय से अनन्त गुण, सिद्धभगवन्तों के होते हैं।

प्रश्न 361 - जब सिद्धों में अनन्त गुण प्रगट हो गये हैं, तो आठ गुणों का ही वर्णन क्यों किया है ?

उत्तर - मध्यम रुचिवाले शिष्यों की अपेक्षा से, व्यवहारनय से आठ गुणों का ही वर्णन किया है।

प्रश्न 362 - क्या शिष्य कई रुचिवाले होते हैं ?

उत्तर - (1) संक्षेपरुचिवाले शिष्य। (2) विस्ताररुचिवाले

शिष्य। (3) मध्यमरुचिवाले शिष्य - इस प्रकार तीन रुचिवाले शिष्य होते हैं।

प्रश्न 363 - संक्षेपरुचिवाले शिष्यों के प्रति सिद्धों के लिए संक्षेप में क्या बताया जाता है?

उत्तर - (1) अभेदनय से सिद्धभगवान अनन्त ज्ञानादि चार-सहित। (2) अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख त्रयसहित (3) केवलज्ञान-दर्शन दोसहित। (4) साक्षात् अभेदनय से शुद्ध चैतन्य ही एक गुण है - इस प्रकार संक्षेपरुचिवाले शिष्यों के अपेक्षा से संक्षेप में कहा जाता है।

प्रश्न 364 - विस्ताररुचिवाले शिष्यों को क्या बताया जाता है?

उत्तर - विशेष अभेदनय की अपेक्षा से सिद्धभगवान में (1) निर्गतित्व, (2) निरिन्द्रियत्व, (3) निष्कायत्व, (4) निर्योगत्व, (5) निर्वेदत्व, (6) निष्कषायत्व, (7) निर्नामत्व, (8) निर्गोत्रत्व, (9) निरायुत्व इत्यादि अनन्त विशेषगुण तथा अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्वादि अनन्त सामान्यगुण - इस प्रकार आगम से अविरोध से जानना चाहिए।

प्रश्न 365 - सिद्धों के आठ गुणों में से केवलज्ञान और केवलदर्शन का स्वरूप क्या है?

उत्तर - (1) केवलज्ञान = त्रिकाल-तीन लोकवर्ती समस्त वस्तुगत अनन्त धर्मों को युगपत् विशेषरूप से प्रकाशित करे।

(2) केवलदर्शन = उन सबको युगपत् सामान्यरूप से प्रकाशित करे।

प्रश्न 366 - सिद्धों के आठ गुणों में से अनन्त वीर्य और क्षायिकसम्यक्त्व का स्वरूप क्या है?

उत्तर - (3) अनन्त वीर्य = अनन्त पदार्थों को जानने में खेद के अभावरूप दशा (4) क्षायिकसमयक्त्व = समस्त जीवादि तत्त्वों के विषय में विपरीताभिनिवेशरहित परिणति का होना।

प्रश्न 367 - सिद्धों के आठ-आठ गुणों में से सूक्ष्मत्व और अवगाहनत्व का स्वरूप क्या है?

उत्तर - (5) सूक्ष्मत्व = सूक्ष्म अतीन्द्रिय केवलज्ञान का विषय होने से सिद्धों के स्वरूप को सूक्ष्म बताता है। (6) अवगाहनत्व = जहाँ एक सिद्ध हो, वहाँ अनन्त सिद्ध समाविष्ट होते हैं।

प्रश्न 368 - सिद्धों के आठ गुणों में से अगुरुलघुत्व और अव्यावाधत्व का स्वरूप क्या है?

उत्तर — (7) अगुरुलघुत्व = जीवों में छोटे-बड़ेपने का अभाव। (8) अव्यावाधत्व = किसी से बाधा को प्राप्त न होना।

प्रश्न 369 - सिद्ध और कैसे हैं?

उत्तर - तेरहवें गुणस्थान के अन्त भाग में नासिकादि छिद्र पुरे हो जाते हैं और एक चैतन्यघन बिम्ब हो जाता है; इसलिए सिद्धों का आकार चरमदेह से कुछ न्यून होता है। (2) लोकाग्र में स्थित हैं। (3) उत्पाद-व्यय सहित हैं।

प्रश्न 370 - इस गाथा का तात्पर्य क्या है?

उत्तर - (1) केवली सिद्धभगवान, रागादिरूप परिणामित नहीं होते हैं और वे संसार अवस्था को नहीं चाहते - यह श्रद्धान का बल जानना चाहिए। (2) जैसा सात तत्त्वों का श्रद्धान, छद्मस्थ को होता है, वैसा ही केवली-सिद्धभगवान के भी होता है। (3) इसीलिए ज्ञानादिक ही हीनता-अधिकता होने पर भी, तिर्यञ्चादिक और केवली-सिद्धभगवान के सम्यक्त्वगुण समान ही जानना।

(4) इसलिए सभी जीवों को वैसा श्रद्धान प्रगट करना चाहिए और आगे बढ़ने का प्रयास चालू रखना चाहिए।

प्रश्न 371 - सिद्धों के उत्पाद-व्यय को समझाइये ?

उत्तर - (1) सिद्धत्व हो गया, वह बदलकर संसारीपना नहीं हो सकता है। (2) यदि प्रति समय उत्पाद-व्यय न हो तो द्रव्य के सत्पने का नाश हो जावे, क्योंकि 'उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्' ऐसा आगम का वचन है।

नोट - इस प्रकार वृहद्द्रव्य संग्रह की गाथा 1 से 14 तक के प्रश्नोत्तर ही लेखक द्वारा लिखे गये हैं, शेष गाथाओं के प्रश्नोत्तर अनुपलब्ध हैं। कृपया शेष गाथाएँ एवं टीका का भी मूलग्रन्थ से अभ्यास करना चाहिए। ●●

परिशिष्ट-3

समाधिमरण का स्वरूप

प्रश्न 1- इस समाधिमरण का स्वरूप किस शास्त्र में से लिया है?

उत्तर - आचार्यकल्प श्री पण्डित टोडरमलजी के सहपाठी और धर्मप्रभावना में उत्साहप्रेरक श्रीयुत्त ब्रह्मचारी रायमलजी कृत 'ज्ञानानन्द निर्भर निजरस श्रावकचार' नामक ग्रन्थ (पृष्ठ 224 से 243) में से यह अधिकार अति उपयोगी जानकर धर्म-जिज्ञासुओं के लिए यहाँ दिया गया।

प्रश्न 2 - इस समाधिमरण के रचियता कौन हैं?

उत्तर - श्री बुधजनजी के शब्दों में — 'यह समाधिमरण का स्वरूप पण्डित श्री टोडरमलजी के सुपुत्र पण्डित श्री गुमानीरामजी कृत ही हैं।'

प्रश्न 3 - समाधिमरण किसे कहते हैं?

उत्तर - हे भव्य! तू सुन! समाधि नाम नि:कषाय का है, शान्तपरिणामों का है; कषायरहित शान्तपरिणामों से मरण होना, समाधिमरण है। संक्षिप्तरूप से समाधिमरण का यही वर्णन है, विशेषरूप से कथन आगे किया जा रहा है।

प्रश्न 4 - सम्यग्ज्ञानी क्या इच्छा करता है?

उत्तर - सम्यग्ज्ञानी पुरुष का यह सहजस्वभाव ही है कि वह

समाधिमरण ही की इच्छा करता है, उसकी हमेशा यही भावना रहती है। अन्त में मरण का समय निकट आने पर वह इस प्रकार सावधान होता है, जिस प्रकार वह सोया हुआ सिंह सावधान होता है, जिसको कोई पुरुष ललकारे कि हे सिंह! तुम्हारे पर बैरियों की फौज आक्रमण कर रही है, तुम पुरुषार्थ करो और गुफा से बाहर निकलो! जब तक बैरियों का समूह दूर है, तब तक तुम तैयार हो जाओ; बैरियों की फौज को जीत लो। महान् पुरुषों को यही रीति है कि वे शत्रु के जागृत होने से पहले तैयार होते हैं।

उस पुरुष के ऐसे वचन सुनकर शार्दूल तत्क्षण ही उठा और उसने ऐसी गर्जना की कि मानो आषाढ़ माह में इन्द्र ने ही गर्जना की हो! सिंह की गर्जना सुनकर बैरियों की फौज में जो हाथी-घोड़ा आदि थे, वे सब कम्पायमान हो गये और वे सिंह को जीतने में समर्थ नहीं हुए। हाथियों ने आगे कदम रखना बन्द कर दिया, उनके हृदय में सिंह के आकार की छाप पड़ गयी है; इसलिए वे धैर्य नहीं धारण कर रहे; क्षण-क्षण में निहार करते हैं; उनसे सिंह के पराक्रम का मुकाबला नहीं किया जा सकता। (इस उदाहरण को अब सम्यक्ज्ञानी की अपेक्षा से बताते हैं) सम्यग्ज्ञानी पुरुष तो शार्दूल सिंह है और अष्ट कर्म, बैरी हैं। सम्यग्ज्ञानीरूपी सिंह, मरण के समय इन अष्ट कर्मरूपी बैरियों को जीतने के लिए विशेषरूप से उद्यम करता है। मृत्यु को निकट जानकर सम्यग्ज्ञानी पुरुष, सिंह की तरह सावधान होता है और कायरपने को दूर ही से छोड़ देता है।

प्रश्न 5 - सम्यग्दृष्टि कैसा होता है?

उत्तर - उसके हृदय में आत्मा का स्वरूप दैदीप्यमान प्रकटरूप से प्रतिभासता है। वह ज्ञान ज्योति को लिये आनन्दरस से परिपूर्ण है।

वह अपने को साक्षात् पुरुषाकार अमूर्तिक, चैतन्य धातु का

पिण्ड, अनन्त गुणों से युक्त चैतन्यदेव ही जानता है। उसके अतिशय से ही वह परद्रव्य के प्रति रंचमात्र भी रागी नहीं होता है।

प्रश्न 6 – सम्यग्दृष्टि रागी क्यों नहीं होता है ?

उत्तर – वह अपने निज-स्वरूप को वीतराग, ज्ञाता-दृष्टा, परद्रव्य से भिन्न, शाश्वत और अविनाशी जानता है और परद्रव्य को क्षणभंगुर, अशाश्वत, अपने स्वभाव से भली भाँति भिन्न जानता है; इसलिए सम्यग्ज्ञानी, रागी नहीं होता है और वह मरण से कैसे डरे ? न डरे।

प्रश्न 7 – ज्ञानी पुरुष, मरण के समय किस प्रकार की भावना व विचार करता है ?

उत्तर – 'मुझे ऐसे चिह्न दिखायी देने लगे हैं, जिनसे मालूम होता है कि अब इस शरीर की आयु थोड़ी है; इसलिए मुझे सावधान होना उचित है; इसमें (देर) विलम्ब करना उचित नहीं है। जैसे, योद्धा, युद्ध की भेरी सुनने के बाद, बैरियों पर आक्रमण करने में क्षणमात्र की भी देर नहीं करता है और उसके वीररस प्रकट होने लगता है कि 'कब बैरियों से मुकाबला करूँ और कब उनको जीतूँ!'

प्रश्न 8 – काल को जीतने की इच्छावाला सम्यग्दृष्टि क्या विचारता है ?

उत्तर – हे कुटुम्ब-परिवारवालों! सुनो! देखो! इस पुद्गलपर्याय का चरित्र! यह देखते-देखते उत्पन्न होती है और देखत-देखते ही नष्ट हो जाती है, सो मैं तो पहले ही इसका विनाशीक स्वभाव जानता था; अब इसके नाश का समय आ गया है। इस शरीर की आयु तुच्छ रह गयी है और उसमें भी प्रति समय क्षण-क्षण कम हुई जाती है, किन्तु मैं ज्ञाता-दृष्टा हुआ इसके (शरीर के) नाश को देख रहा हूँ। मैं इसका पड़ोसी हूँ; न कि कर्ता या स्वामी। मैं देखता हूँ कि इस शरीर की आयु कैसे पूर्ण होती है और कैसे इसका (शरीर का) नाश

होता है ? - यही मैं तमाशगीर की तरह देख रहा हूँ। अनन्त पुद्गलपरमाणु इकट्ठे होकर शरीर की पर्यायरूप परिणमते हैं। शरीर कोई भिन्न पदार्थ नहीं है और मेरा स्वरूप भी नहीं है; मेरा स्वरूप तो एक चेतनस्वभाव शाश्वत अविनाशी है, उसकी महिमा अद्भुत है, सो मैं किससे कहूँ ?

प्रश्न 9 - पुद्गलपर्याय का माहात्म्य क्या है ?

उत्तर - देखो ! इस पुद्गल का माहात्म्य ! अनन्त परमाणुओं का परिणमन इतने दिन एक-सा रहा, यह बड़ा आश्चर्य है। अब वे ही पुद्गल के विभिन्न परमाणु, अन्य-अन्यरूप परिणमन करने लगे हैं तो इसमें आश्चर्य क्या ? लाखों मनुष्य इकट्ठे होकर मिलने से 'मेला' होता है, यह मेलापर्याय शाश्वत रहने लगे तो आश्चर्य समझना चाहिए। इतने दिन तक लाखों मनुष्यों का परिणमन एक-सा रहा — ऐसा विचार करनेवाला मनुष्य आश्चर्य मानता है। तत्पश्चात वे लाखों मनुष्य भिन्न-भिन्न दशों-दिशाओं में चले जाते हैं, तब 'मेला' नाश हो जाता है। यह तो इन पुरुषों का अपना-अपना परिणमन ही है, जोकि इनका स्वभाव है, इसमें आश्चर्य क्या ? इसी प्रकार शरीर का परिणमन नाशरूप होता है, यह स्थिर कैसे रहेगा ?

प्रश्न 10 - शरीरपर्याय को रखने में कोई समर्थ न होने का क्या कारण है ?

उत्तर - तीन लोक में जितने पदार्थ हैं, वे सब अपने-अपने स्वभावरूप परिणमन करते हैं; कोई किसी का कर्ता नहीं है, कोई किसी का भोक्ता नहीं; स्वयं ही उत्पन्न होता है, स्वयं ही नष्ट होता है; स्वयं ही मिलता है, स्वयं ही बिछुड़ता है; स्वयं ही गलता है तो मैं इस शरीर का कर्ता और भोक्ता कैसे और मेरे रखने से यह (शरीर) कैसे रहे और उसी प्रकार मेरे दूर करने से, यह दूर कैसे हो जाए ? मेरा

इसके प्रति कोई कर्तव्य नहीं है, पहले झूठा ही अपना कर्तव्य मानता था। मैं तो अनादि काल से आकुल-व्याकुल होकर महादु:ख पा रहा था, सो यह बात न्याययुक्त ही है कि जिसका किया कुछ नहीं होता, वह परद्रव्य का कर्ता होकर, उसे अपने स्वभाव के अनुसार परिणमाना चाहे तो वह दु:ख पावे ही पावे।

प्रश्न 11 – सम्यग्दृष्टि किसका कर्ता और भोक्ता है?

उत्तर – मैं तो अपने ज्ञायकस्वभाव का ही कर्ता और भोक्ता हूँ और उसी का वेदन और अनुभव करता हूँ। इस शरीर के जाने से मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं और इसके रहने से कुछ भी सुधार नहीं है। यह तो प्रत्यक्ष ही काष्ठ या पाषाण की तरह अचेतनद्रव्य है। काष्ठ, पाषाण और शरीर में कोई भेद नहीं है। इस शरीर में एक जानने का ही चमत्कार है, सो वह मेरा स्वभाव है; न कि शरीर का। शरीर तो प्रत्यक्ष ही मुर्दा है। मेरे निकल जाने पर इसे जला देते हैं। मेरे ही मुलाहिजे (निमित्त) से इस शरीर का जगत द्वारा आदर किया जाता है।

प्रश्न 12 – क्या जगत को खबर नहीं है कि आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न हैं?

उत्तर – आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न ही हैं। जगत के लोग भ्रम के कारण ही, इस शरीर को, अपना जानकर, ममत्व करते हैं और इसको नष्ट होते देखकर दु:खी होते हैं और शोक करते हैं। कि 'हाय! हाय! मेरा पुत्र, तू कहाँ गया? हाय! हाय!! मेरा पति, तू कहाँ गया? हाय! हाय!! मेरी पुत्री, तू कहाँ गयी? हाय पिता! तू कहाँ गया? हाय! इष्ट भ्रात! तू कहाँ गया?' इस प्रकार अज्ञानी पुरुष, पर्यायों को नष्ट होते देखकर, दु:खी होते हैं और महादु:ख एवं क्लेश पाते हैं।

प्रश्न 13 – ज्ञानी पुरुष क्या विचार करते हैं?

उत्तर – किसका पुत्र? किसकी पुत्री? किसका पति? किसकी

स्त्री ? किसकी माता ? किसका पिता ? किसकी हवेली ? किसका मन्दिर ? किसका माल ? किसके आभूषण और किसके वस्त्र ? ये सब सामग्री झूठी, विनाशीक है; अत: ये सब उसी प्रकार से अस्थिर हैं, जैसे स्वप्न में दिखा हुआ राज्य; इन्द्रजाल द्वारा बनाया हुआ तमाशा; भूतों की माया या आकाश में बादलों की शोभा। ये सब वस्तुएँ देखने में रमणीक लगती हैं, किन्तु इनका स्वभाव विचारें तो कुछ भी नहीं है। यदि वस्तु होती तो स्थिर रहती; नष्ट क्यों होती ? ऐसा जानकर मैं त्रिलोक में जितनी पुद्गल की पर्यायें हैं, उन सबसे ममत्व छोड़ता हूँ और अपने शरीर से भी ममत्व छोड़ता हूँ; इसीलिए इसके नष्ट होने से मेरे परिणामों में अंशमात्र भी खेद नहीं है। ये शरीरादि सामग्री चाहे जैसे परिणमें, मेरा कुछ प्रयोजन नहीं है। चाहे ये कम हो, चाहे भोगो, चाहे नष्ट हो जावो, मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है।

प्रश्न 14 – मोह का स्वभाव कैसा है ?

उत्तर – अहो देखो, मोह का स्वभाव ! ये सब सामग्री प्रत्यक्ष ही परवस्तु है और उसमें भी ये विनाशीक हैं और इस भव और परभव में दु:खदाई हैं तो भी यह संसारी जीव, इन्हें अपना समझकर रखना चाहता है।

प्रश्न 15 – ऐसा चरित्र देखकर ही ज्ञानदृष्टिवाला जीव क्या जानता है ?

उत्तर – मेरा केवल (मात्र) 'ज्ञान' ही अपना स्वभाव है और उसे ही मैं देखता हूँ; मृत्यु का आगमन देखकर नहीं डरता हूँ। काल तो इस शरीर का ग्राहक है; मेरा ग्राहक नहीं है। जैसे, मक्खी, मिठाई आदि स्वादिष्ट वस्तुओं पर ही जाकर बैठती है, किन्तु अग्नि पर कदाचित् भी नहीं बैठती है; उसी प्रकार काल (मृत्यु) भी दौड़-

दौड़कर शरीर ही को पकड़ता है और मेरे से दूर ही भागता है। मैं तो अनादि काल से अविनाशी चैतन्यदेव त्रिलोक द्वारा पूज्य पदार्थ हूँ, उस पर काल का जोर नहीं चलता। इस प्रकार कौन मरता है और कौन जन्म लेता है और कौन मृत्यु का भय करे? मुझे तो मृत्यु दिखती नहीं है। **जो मरता है, वह तो पहले ही मरा हुआ था और जीता है, वह पहले ही जीता था।** जो मरता है, वह जीता नहीं और जो जीता है, वह मरता नहीं है किन्तु मोहदृष्टि के कारण विपरीत मालूम होता था। अब, मेरा मोहकर्म नष्ट हो गया; इसलिए जैसा वस्तु का स्वभाव है, वैसा ही मुझे दृष्टिगोचर होता है। उसमें जन्म, मरण, दु:ख, सुख दिखायी नहीं पड़ते; अत: मैं अब किस बात का सोच-विचार करूँ? मैं तो चैतन्यशक्तिवाला शाश्वत बना रहनेवाला हूँ, उसका अवलोकन करते हुए दु:ख का अनुभव कैसे हो?

प्रश्न 16 – मैं कैसा हूँ?

उत्तर – मैं ज्ञानानन्द, स्वात्मरस से परिपूर्ण हूँ और शुद्धोपयोगी हुआ ज्ञानरस का आचरण करता हूँ और ज्ञानाञ्जली द्वारा उस अमृत का पान करता हूँ। वह अमृत, मेरे स्वभाव से उत्पन्न हुआ है, इसलिए वह स्वाधीन है; पराधीन नहीं है; इसलिए मुझे उसके आस्वादन में खेद नहीं है।

प्रश्न 17 – और मैं कैसा हूँ?

उत्तर – मैं अपने निजस्वभाव में स्थित हूँ, अकम्प हूँ; मैं ज्ञानामृत से परिपूर्ण हूँ; मैं दैदीप्यमान ज्ञानज्योति युक्त अपने ही निज स्वभाव में स्थित हूँ।

प्रश्न 18 – चैतन्यस्वरूप की महिमा क्या है?

उत्तर – देखो! इस अद्‌भुत चैतन्यस्वरूप की महिमा! उसके ज्ञानस्वभाव में समस्त ज्ञेयपदार्थ स्वयंमेव झलकते हैं, किन्तु वह

स्वयं ज्ञेयरूप नहीं परिणमता है और उस झलकने में (जानने में) विकल्प का अंश भी नहीं है; इसीलिए उसके निर्विकल्प, अतीन्द्रिय, अनुपम, बाधारहित और अखण्ड सुख उत्पन्न होता है। ऐसा सुख, संसार में नहीं है; संसार में तो दुःख ही है। अज्ञानी जीव इस दुःख में भी सुख का अनुमान करते हैं, किन्तु वह सच्चा सुख नहीं है।

प्रश्न 19 - और मैं कैसा हूँ?

उत्तर - मैं ज्ञानादि गुणों से परिपूर्ण हूँ और उन गुणों से एकमय हुआ अनन्त गुणों की खान बन गया हूँ।

प्रश्न 20 - मेरा चैतन्यस्वरूप कैसा है?

उत्तर - सर्वाङ्ग में चैतन्य ही चैतन्य उसी प्रकार व्याप्त है, जिस प्रकार नमक की डली में सर्वत्र क्षाररस है या जिस प्रकार शक्कर की डली में सर्वत्र अमृतरस व्याप्त हो रहा है। वह शक्कर की डली, पूर्णतः अमृतमय पिण्ड ही है; वैसे ही मैं एक ज्ञानमय पिण्ड बना हुआ हूँ। मेरे सर्वांग में ज्ञान ही ज्ञान है। जितना-जितना शरीर का आकार है, उतना-उतना ही आकार के निमित्त मेरा आकार है, किन्तु अवगाहनशक्ति द्वारा मेरा इतना बड़ा आकार, इतने से आकार में समा जाता है। समा जाने पर भी असंख्यात प्रदेश भिन्न-भिन्न रहते हैं। उनमें संकोच-विस्तार की शक्ति है — ऐसा सर्वज्ञदेव ने देखा है।

प्रश्न 21 - और मेरा निजस्वरूप कैसा है?

उत्तर - वह अनन्त आत्मीक सुख का भोक्ता है तथा एक सुख की ही मूर्ति है। वह चैतन्यमय पुरुषाकार है। जैसे, मिट्टी के साँचे में एक शुद्ध चाँदी की प्रतिमा बनायी जाये, वैसे ही इस शरीर के साँचे में आत्मा को जानना चाहिए। मिट्टी का सांचा, समय पाकर गल जाता है, जल जाता है, टूट जाता है किन्तु चाँदी की प्रतिमा ज्यों की त्यों बनी रहे, वह आवरणरहित होकर सबको प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो

जाए। साँचे के नाश होने से प्रतिमा का नाश नहीं होता है, वस्तु पहले से ही तो थी; इसलिए एक के नाश होने से दूसरे का नाश कैसे हो? यह तो सर्वमान्य नियम है। वैसे ही समय पाकर शरीर नष्ट होता है, तो होओ, मेरे स्वभाव का नाश होता नहीं; मैं किस बात का सोच करूँ?

प्रश्न 22 - मेरा चैतन्यरूप कैसा है?

उत्तर - वह आकाश के समान निर्मल है। आकाश में किसी प्रकार का विकार नहीं है, वह बिल्कुल स्वच्छ निर्मल है। यदि कोई आकाश को तलवार से तोड़ना, काटना चाहे या अग्नि से जलाना चाहे या पानी से गलाना चाहे तो वह आकाश कैसे तोड़ा, काटा जावे या जले या गले? उसका बिल्कुल नाश नहीं हो सकता। यदि कोई आकाश को पकड़ना या तोड़ना चाहे तो वह पकड़ा या तोड़ा नहीं जा सकता; वैसे ही मैं आकाश की तरह अमूर्तिक, निर्विकार, पूर्ण निर्मलता का पिण्ड हूँ; मेरा नाश किस प्रकार हो? किसी भी प्रकार नहीं हो, यह नियम है। यदि आकाश का नाश हो तो मेरा भी हो, ऐसा जानना, किन्तु आकाश के और मेरे स्वभाव में इतना विशेष अन्तर है कि आकाश तो जड़ अमूर्तिक पदार्थ है और मैं चैतन्य अमूर्तिक पदार्थ हूँ। मैं चैतन्य; इसलिए ऐसा विचार करता हूँ कि आकाश, जड़ है और मैं चैतन्य। मेरे द्वारा जानना प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है और आकाश नहीं जानता है।

प्रश्न 23 - और मैं कैसा हूँ?

उत्तर - मैं दर्पण की तरह स्वच्छशक्ति का ही पिण्ड हूँ। दर्पण की स्वच्छशक्ति में घट-पटादि पदार्थ स्वयंमेव ही झलकते हैं। दर्पण में स्वच्छशक्ति व्याप्त रहती है; वैसे ही मैं स्वच्छशक्तिमय हूँ। मेरी स्वच्छशक्ति में (कर्मरहित अवस्था में) समस्त ज्ञेयपदार्थ, स्वयंमेव ही झलकते हैं, ऐसी स्वच्छशक्ति मेरे स्वभाव में विद्यमान है। मेरे

सर्वांग में स्वच्छता भरी हुई है। परन्तु स्वच्छता भिन्न है, तथा ये ज्ञेयपदार्थ भिन्न हैं। यह स्वच्छतशक्ति का स्वभाव ही है कि उसमें अन्य पदार्थों का दर्शन होता है।

प्रश्न 24 - और मैं कैसा हूँ ?

उत्तर - मैं अत्यन्त अतिशय निर्मल, साक्षात् प्रकट ज्ञान का पुञ्ज बना हुआ हूँ और अनन्त शान्तिरस से परिपूर्ण और एक अभेद निराकुलता से व्याप्त हूँ।

प्रश्न 25 - और मेरा चैतन्यस्वरूप कैसा है ?

उत्तर - वह अपनी अनन्त महिमा से युक्त है; वह किसी की सहायता नहीं चाहता है; वह असहायस्वभाव को धारण किये हुये हैं; वह स्वयंभू हैं; वह एक अखण्ड ज्ञानमूर्ति, परद्रव्य से भिन्न, शाश्वत, अविनाशी और परमदेव है और इसके अतिरिक्त उत्कृष्ट देव किसे मानें ? यदि त्रिकाल में कोई हो तो मानें ? नहीं है।

प्रश्न 23 - मेरा ज्ञानस्वरूप कैसा है ?

उत्तर - वह अपने स्वभाव को छोड़कर अन्यरूप नहीं परिणमता है। वह अपने स्वभाव की मर्यादा उसी प्रकार नहीं छोड़ता, जिस प्रकार जल से परिपूर्ण समुद्र, सीमा को छोड़कर अन्यत्र गमन नहीं करता। समुद्र अपनी लहरों की सीमा में भ्रमण करता है; उसी प्रकार ज्ञानरुपी समुद्र अपनी शुद्ध परिणतिरुप तरंगावलियुक्त अपने सहजस्वभाव में भ्रमण करता है। ऐसी अद्‌भुत महिमा युक्त मेरा ज्ञानस्वरूप परमदेव, अनादि काल से इस शरीर से भिन्न है।

प्रश्न 27 - आत्मा का शरीर के साथ कैसा सम्बन्ध है ?

उत्तर - मेरे और इस शरीर के पड़ोसी के समान संयोग हैं। मेरा स्वभाव अन्य प्रकार का है और इसका स्वभाव अन्य प्रकार है। मेरा

परिणमन और इसका परिणमन भिन्न प्रकार का है; इसलिए यदि शरीर अभी गलनरूप परिणमता है तो मैं किस बात का शोक करूँ और किसका दु:ख करूँ ? मैं तो तमाशगीर पड़ोसी की तरह इसका गलन देख रहा हूँ।

मेरे इस शरीर से राग-द्वेष नहीं है। राग-द्वेष इस जगत में निंद्य समझे जाते हैं और ये परलोक में भी दु:खदाई हैं। ये राग-द्वेष, मोह ही से उत्पन्न होते हैं। जिसके मोह नष्ट हो गया, उसके राग-द्वेष नष्ट हो गये। मोह के द्वारा ही परद्रव्य में अहंकार और ममकार उत्पन्न होते हैं। यह द्रव्य है, सो मैं हूँ — ऐसा भाव तो अहंकार है और यह द्रव्य मेरा — ऐसा भाव ममकार है। पर सामग्री चाहने पर मिलती नहीं और छोड़ी जाती नहीं, तब यह आत्मा खेद-खिन्न होता है। यदि सर्व सामग्री को दूसरों की जाने तो इसके (सामग्री) आने और जाने का विकल्प क्यों उत्पन्न हो ? मेरे तो मोह पहले ही नष्ट हो गया और मैंने शरीरादिक सामग्री को पहले ही परायी जान ली है; इसलिए अब इस शरीर के जाने से किस बात का विकल्प उठे ? कदाचित नहीं उठे। मैंने विकल्प उत्पन्न करानेवाले व्यक्ति का (मोहवत्) पहले ही भलीभाँति नाश कर दिया है; इसलिए मैं निर्विकल्प आनन्दमय निज स्वरूप को बार-बार सम्हालता एवं याद करता हुआ अपने स्वभाव में स्थित हूँ।'

प्रश्न 28 - कोई चतुर,सम्यग्दृष्टि को इस प्रकार समझता है कि यह शरीर तो तुम्हारा नहीं है किन्तु इस शरीर के निमित्त से मनुष्यपर्याय में शुद्धोपयोग का साधन भलीप्रकार होता था, उसका उपकार जानकर इसे रखने का उद्यम करना उचित है, इसमें हानि नहीं है ?

उत्तर - हे भाई! तुमने यह बात कही, सो हम भी जानते हैं।

मनुष्यपर्याय में शुद्धोपयोग का साधन, ज्ञानाभ्यास का साधन, और ज्ञान-वैराग्य की वृद्धि आदि अनेक गुणों की प्राप्ति होती है, जो कि अन्य पर्याय में दुर्लभ है, किन्तु अपने संयमादि गुण रहते हुए शरीर रहे तो रहो, वह तो ठीक ही है; हमारे से कोई बैर तो है नहीं और यदि शरीर न रहे तो अपने संयमादि गुण निर्विघ्नरूप से रखना और शरीर से ममत्व छोड़ना चाहिए। हमें शरीर के लिए संयमादि गुण कदाचित् भी नहीं खोने हैं।

प्रश्न 29 - सम्यग्दृष्टि ने क्या दृष्टान्त दिया है?

उत्तर - जैसे कोई रत्नों का लोभी पुरुष, परदेश से रत्नद्वीप में फूँस की झोपड़ी में रत्न ला-लाकर इकट्ठा करता है। यदि उस झोपड़ी में अग्नि लग जावे तो वह विचक्षण पुरुष ऐसा विचार करे कि किसी प्रकार इस अग्नि का निवारण करना चाहिए; रत्नों सहित इस झोपड़ी को बचाना चाहिए। यह झोपड़ी रहेगी तो इसके सहारे बहुत रत्न और इकट्ठे पर लूँगा। इस प्रकार वह पुरुष, अग्नि को बुझती हुई जाने तो रत्न रखकर, उसे बुझावे और यदि वह समझे कि रत्न जाने से, झोपड़ी रहे तो यह कदाचित् झोपड़ी रखने का उपाय नहीं करता। उस अवस्था में वह झोपड़ी को जलने दे और सम्पूर्ण रत्नों को लेकर अपने देश आ जावे। तत्पश्चात् वह एक-दो रत्न बेचकर अनेक तरह की विभूति भोगता है और अनेक प्रकार के स्वर्ण के महल, मकानादि व बागादिक बनाता है और राग, रंग, सुगन्ध आदि से युक्त क्रीड़ा करता हुआ अत्यन्त सुख भोगता है।

प्रश्न 30 - भेदविज्ञानी पुरुष कैसा है?

उत्तर - रत्नों के लोभी उक्त पुरुष की तरह भेदविज्ञानी पुरुष है। वह शरीर के लिये संयमादि गुणों में अतिचार नहीं लगाता और ऐसा विचार करता है कि 'संयमादि गुण रहेंगे तो मैं विदेहक्षेत्र में देव

बनकर जाऊँगा और सीमंधरस्वामी आदि बीस तीर्थङ्करों और अनेक केवलियों एवं मुनियों के दर्शन करूँगा और अनेक जन्मों के संचित पाप नष्ट करूँगा और मनुष्यपर्याय में अनेक प्रकार के संयम धारणा करूँगा। मैं, श्री तीर्थङ्कर केवली भगवान के चरण कमल में क्षायिकसम्यक्त्व का साधन करूँगा और अनेक प्रकार के मनवांछित प्रश्न कर तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप जानूँगा। राग-द्वेष, संसार के कारण हैं; मैं उनका शीघ्रतापूर्वक आमूल नाश करूँगा। मैं, श्री परम दयाल, आनन्दमय केवल लक्ष्मीसंयुक्त श्री जिनेन्द्रभगवान की छवि का दर्शनरूपी अमृत का निरन्तर लाभ लूँगा। तत्पश्चात् मैं शुद्धाचरण द्वारा कर्म-कलंक को धोने का प्रयत्न करूँगा। मैं पवित्र होकर श्री तीर्थङ्करदेव के निकट दीक्षा धारण करूँगा और तत्परिणाम-स्वरूप मेरा शुद्धोपयोग अत्यन्त निर्मल होगा और मैं अपने स्वरूप में लीन होऊँगा। मैं उसके बाद क्षपकश्रेणी के सन्मुख होऊँगा और कर्मरूपी शत्रुओं से युद्धकर जन्म-जन्म के कर्मों का उन्मूलन करूँगा और केवलज्ञान प्रगट करूँगा और मुझे एक समय में समस्त लोकालोक के त्रिकालीन चराचर पदार्थ दृष्टिगोचर हो जायेंगे। तत्पश्चात् मेरा यह स्वभाव शाश्वत् रहेगा। मैं ऐसी केवलज्ञान लक्ष्मी का स्वामी हूँ, तब इस शरीर से कैसे ममत्त्व करूँ?'

प्रश्न 31 - सम्यग्ज्ञानी पुरुष क्या विचार करता है?

उत्तर - मुझे दोनों ही तरह आनन्द है - शरीर रहेगा तो फिर शुद्धोपयोग की आराधना करूँगा और शरीर नहीं रहेगा तो परलोक में जाकर शुद्धोपयोग की आराधना करूँगा। इस प्रकार दोनों ही स्थिति में मेरे शुद्धोपयोग के सेवन में कोई विघ्न नहीं दिखता है; इसलिए मेरे परिणामों में संक्लेश क्यों उत्पन्न हो!

प्रश्न 32 - ज्ञानी अपने शुद्धभावों को कैसा जानता है?

उत्तर - 'मेरे परिणामों में शुद्धस्वरूप से अत्यन्त आसक्ति है। उस आसक्ति को छुड़ाने में ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र धरणेन्द्र, नरेन्द्र आदि कोई भी समर्थ नहीं है। इस आसक्ति को छुड़ाने में केवल मोहकर्म ही समर्थ है, जिसे मैंने पहले ही जीत लिया; इसलिए अब तीन लोक में मेरा कोई शत्रु नहीं रहा और शत्रुओं बिना त्रिकाल -त्रिलोक में दु:ख नहीं है; इसलिए मरण से मुझे भय कैसे हो? इस प्रकार में आज पूर्णत: निर्भय हुआ हूँ। यह बात अच्छी तरह जाननी चाहिए, इसमें कुछ सन्देह नहीं है।

प्रश्न 33 - क्या ज्ञानी पुरुष, शरीर की स्थिति से परिचित होता है?

उत्तर - शुद्धोपयोगी पुरुष इस प्रकार शरीर की स्थिति से पूर्णत: परिचित हैं और ऐसा विचार करने से उसके किसी भी प्रकार की आकुलता नहीं होती है। आकुलता ही संसार का बीज है। इस आकुलता से ही संसार की स्थिति एवं वृद्धि होती हैं। अनन्त काल से किए हुए संयमादि गुण, आकुलता से इस प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार अग्नि में रुई नष्ट हो जाती है।

प्रश्न 34 - सम्यग्दृष्टि को आकुलता क्यों नहीं होती है?

उत्तर - सम्यग्दृष्टि पुरुष को किसी भी प्रकार की आकुलता नहीं करनी चाहिए और वस्तुत: एक निजस्वरूप का ही बारम्बार विचार करना चाहिए, उसी को देखना चाहिए और उसी के गुणों का संस्मरण; चिन्तवन निरन्तर करना चाहिए! उसी में स्थित रहना चाहिए और कदाचित् शुद्धस्वरूप से चित्त चलायमान हो तो ऐसा विचार करना चाहिए — यह संसार अनित्य है, इस संसार में कुछ भी सार नहीं है; यदि इसमें कुछ सार होता तो तीर्थङ्करदेव इसे क्यों छोड़ते?

प्रश्न 35 - सम्यग्दृष्टि को किसका शरण है ?

उत्तर - 'इसलिए निश्चयतः मुझे मेरा स्वरूप ही शरण है और बाह्यतः पञ्च परमेष्ठी, जिनवाणी और रत्नत्रयधर्म शरण हैं; मुझे इनके अतिरिक्त स्वप्न में भी और कोई वस्तु शरणरूप नहीं है — ऐसा मैंने नियम लिया है।'

प्रश्न 36 - सम्यग्दृष्टि का उपयोग, स्व में न लगे तब वह क्या करता है ?

उत्तर - सम्यग्दृष्टि पुरुष ऐसा नियम कर स्वरूप में उपयोग लगावे और उसमें उपयोग नहीं लगे तो अरिहन्त और सिद्ध के स्वरूप का अवलोकन करे और उनके द्रव्य, गुण, पर्याय का विचार करे। ऐसा विचार करते हुए उपयोग निर्मल हो, तब फिर उसे (उपयोग को) अपने स्वरूप में लगावे। अपने स्वरूप जैसा अरिहन्तों का स्वरूप है और अरहन्त-सिद्ध का स्वरूप जैसा अपना स्वरूप है। अपने (मेरी आत्मा के) और अरिहन्त-सिद्धों के द्रव्यत्व-स्वभाव में अन्तर नहीं है, किन्तु उनके पर्यायस्वभाव में अन्तर है ही। मैं द्रव्यत्वस्वभाव का ग्राहक हूँ; इसलिए अरिहन्त का ध्यान करते हुए आत्मा का ध्यान भली प्रकार सधता है और आत्मा का ध्यान करते हुए अरिहन्तों का ध्यान भली प्रकार सधता है। अरिहन्तों और आत्मा के स्वरूप में अन्तर नहीं है, चाहे अरिहन्त का ध्यान करो या चाहे आत्मा का ध्यान करो, दोनों समान है — ऐसा विचारता हुआ सम्यग्दृष्टि पुरुष सावधानीपूर्वक स्वभाव में स्थित होता है।

प्रश्न 37 - सम्यग्दृष्टि कुटुम्ब, परिवार आदि से कैसे ममत्व छुड़ाता है ?

उत्तर - पहले अपने माता-पिता को समझाता है :- अहो ! इस शरीर के माता-पिता ! आप यह अच्छी तरह जानते हो कि यह शरीर

इतने दिनों तक तुम्हारा था, अब तुम्हारा नहीं है। अब इसकी आयु पूरी होनेवाली है, सो किसी के रखने से वह रखा नहीं जा सकता। इसकी इतनी ही स्थिति है, सो अब इससे ममत्व छोड़ो! अब इससे ममत्व करने से क्या फायदा? अब इससे प्रीति करना दुःख ही का कारण है। इन्द्रादिक देवों की शरीरपर्याय भी विनाशीक है। जब मृत्यु समय आवे, तब इन्द्रादिक देव भी दुःखी होकर मुँह ताकते रह जाते हैं और अन्य देवों के देखते-देखते, काल के किंकर से उन्हें उठा ले जाते हैं। किसी की शक्ति नहीं कि काल के किंकरों से उन्हें क्षणमात्र भी रोक ले। इस प्रकार ये काल के किंकर एक-एक करके सबको ले जायेंगे।

जो अज्ञानवश होकर काल के अधीन रहेंगे, उनकी यही गति होगी; अतः तुम मोह के वश होकर इस पराये शरीर से ममत्व करते हो और इसे रखना चाहते हो, तुम्हें मोह के वश होने से संसार का चरित्र झूठा नहीं लगता है। दूसरे का शरीर रखना तो दूर, तुम अपना शरीर तो पहले रखो, फिर औरों के शरीर के रखने का उपाय करना। आपकी यह भ्रमबुद्धि है, जो व्यर्थ ही दुःख का कारण है, किन्तु यह प्रत्यक्ष होते हुए भी तुम्हें नहीं दिख रहा है।

संसार में अब तक काल ने किसको छोड़ा है और अब किसको छोड़ेगा? हाय! हाय!! देखो, आश्चर्य की बात कि आप निर्भय होकर बैठे हो, यह आपकी अज्ञानता ही है। आपकी क्या होनहार है? यह मैं नहीं जानता हूँ; इसीलिए आपसे पूछता हूँ कि आपको अपना और पर का कुछ ज्ञान भी है! हम कौन हैं? कहाँ से आए हैं? यह पर्याय पूर्ण कर कहाँ जायेंगे? पुत्रादि से प्रेम करते हैं, सो ये भी कौन हैं? हमारा पुत्र इतने दिन तक (जन्म लेने से पहले) कहाँ था, जो इसके प्रति हमारी ममत्वबुद्धि हुई और हमें इसके वियोग का

शोक हुआ? इन सब प्रश्नों पर सावधानीपूर्वक विचार करो और भ्रमरूप मत रहो।

आप अपना कर्तव्य विचारने और करने में सुखी होओगे। पर का कार्य या अकार्य उसके (पर के) हाथ है (आधीन है), उसमें आपका कर्तव्य कुछ भी नहीं है। आप व्यर्थ ही खेदखिन्न हो रहे हैं। आप मोह के वश में होकर, संसार में क्यों डूबते हैं? संसार में नरकादि के दु:ख आप ही को सहने पड़ेंगे; आपके लिए और कोई उन्हें नहीं सहेगा। जैनधर्म का ऐसा उपदेश नहीं है कि पाप कोई करे और उसका फल भोगे दूसरा। अत: मुझे आपके लिए बहुत दया आती है, आप मेरा यह उपदेश ग्रहण करें, मेरा यह उपदेश आपके लिए सुखदायी है।

आप मुझसे जितना ममत्व करेंगे, उतना ज्यादा दु:ख होगा; उससे कार्य कुछ भी बनेगा नहीं। इस जीव ने अनन्त बार अनन्त पर्यायों में भिन्न-भिन्न, माता-पिता पाये थे, वे अब कहाँ गये? इस जीव को अनन्त बार स्त्री, पुत्र-पुत्री का संयोग मिला था, वे कहाँ गये? इस जीव को पर्याय-पर्याय में अनेक भाई, कुटुम्ब परिवारादि मिले थे, वे सब अब कहाँ गये? यह संसारी जीव, पर्यायबुद्धिवाला है, इसे जैसी पर्याय मिलती है, वह उसी को अपना स्वरूप मानता है और उसमें तन्मय होकर परिणमने लगता है; वह यह नहीं जानता है कि जो पर्याय का स्वरूप है, वह विनाशीक है और मेरा स्वरूप नित्य, शाश्वत और अविनाशी है, उसे ऐसा विचार ही नहीं होता। इसमें उस जीव का दोष नहीं है, यह तो मोह का माहात्म्य है, जो प्रत्यक्ष सच्ची वस्तु को झूठी दिखा देता है। जिसके मोह नष्ट हो गया है – ऐसा भेदविज्ञानी पुरुष, इस पर्याय में अपनत्व कैसे माने और वह कैसे इसे सत्य माने? वह दूसरे द्वारा चलित कैसे हो? कदाचित नहीं हो।

प्रश्न 38 - ज्ञानी, माता-पिता को समझाते हुए और क्या उपदेश देता है ?

उत्तर - अब, मुझे यथार्थ ज्ञानभाव हुआ है, मुझे स्व-पर का विवेक हो गया है। अब मुझे ठगने में कौन समर्थ है ? मैं अनादि काल से पर्याय-पर्याय में ठगाता चला आया हूँ, तत्परिणामस्वरूप मैंने भव-भव में जन्म-मरण के दु:ख सहे; इसलिए अब आप अच्छी तरह जान लें कि आपके और हमारे इतने दिनों का ही संयोग-सम्बन्ध था, जो अब पूर्ण प्राय: हो गया। अब आपको आत्मकार्य करना उचित है, न कि मोह करना!!

इसलिए अब अपने शाश्वत् निज स्वरूप को सम्हालें। उसमें किसी तरह का खेद नहीं है। हमारे अपने ही घर में अमूल्य निधि है, उसको सम्हालने से जन्म-जन्म के दु:ख नष्ट हो जाते हैं। संसार में जन्म-मरण के जो दु:ख हैं, वह सब अपना स्वरूप जाने बिना हैं; इसलिए सबको ज्ञान ही की आराधना करनी चाहिए। ज्ञानस्वभाव अपना निज स्वरूप है, उसकी प्राप्ति से यह जीव, महासुखी होता है। आप प्रत्यक्ष देखने-जाननेवाले ज्ञायक पुरुष, शरीर से भिन्न ऐसा अपना स्वभाव, उसे छोड़कर और किससे प्रीति की जावे ?

मेरी स्थिति तो इस सोलहवें स्वर्ग के कल्पवासी देव की तरह है, जो तमाशा हेतु मध्यलोक में आवे और किसी गरीब आदमी के शरीर में प्रविष्ट हो जावें और उसकी-सी क्रिया करने लगे। वह कभी तो लकड़ी का गट्ठर सिर पर रखकर बाजार में बेचने जाता है और कभी मिट्टी का तसला सिर पर रख स्त्रियों से रोटी माँगने लगता है, कभी पुत्रादिक को खिलाने लगता है, कभी धान काटने जाता है, कभी राजादि बड़े अधिकारियों के पास जाकर याचना करता है कि महाराजा ! मैं आजीविका के लिये बहुत ही दु:खी हूँ, मेरी प्रतिपालना

करें, कभी दो पैसे मजदूरी के लेकर दाँती कमर में लगाकर काम करते के लिए जाता है, कभी रुपये-दो रुपये की वस्तु खोकर रोता है, हाय! अब मैं क्या करूँगा? मेरा धन चोर ले गये। मैंने धीरे-धीरे धन इकट्ठा किया और उसे भी चोर ले गये, अब मैं अपना समय कैसे बिताऊँगा? कभी नगर में भगदड़ हो तो वह पुरुष एक लड़के को अपने कंधे पर बैठाता है और एक लड़के की अँगुली पकड़ लेता है, और स्त्री तथा पुत्री को अपने आगे कर, सूप, चालणी, मटकी, झाड़ू आदि सामान को एक टोकरी में भरकर अपने सिर पर रखकर, एक दो गुदड़ों की गठरी बाँधकर, उस टोकरी पर रख आधी रात के समय नगर से बाहर निकलता है। उसे मार्ग में कोई राहगीर मिलता है, वह (राहगीर) उस पुरुष को पूछता है; हे भाई! आप कहाँ जाते हैं? तब वह उत्तर देता है कि इस नगर में शत्रुओं की सेना आयी है; इसलिए मैं अपना धन लेकर भाग रहा हूँ और दूसरे नगर में जाकर अपना जीवन यापन करूँगा, इत्यादि नाना प्रकार का चरित्र करता हुआ **वह कल्पवासीदेव, उस गरीब के शरीर में रहते हुए भी अपने सोलहवें स्वर्ग की विभूति को एक क्षणमात्र भी नहीं भूलता है; वह अपनी विभूति का अवलोकन करता हुआ सुखी हो रहा है। उसने गरीब पुरुष के वेष में जो नाना प्रकार की क्रियाएँ की हैं - वह उनमें थोड़ा-सा भी अहंकार-ममकार नहीं करता,** वह सोलहवें स्वर्ग की देवांगना आदि विभूति और देवस्वरूप में ही अहंकार-ममता करता है। उस देव की तरह मैं सिद्धसमान आत्मा द्रव्य, मैं पर्याय में नाना प्रकार की चेष्टा करता हुआ भी, अपनी मोक्षलक्ष्मी को नहीं भूलता हूँ, तब मैं लोक में किसका भय करुँ?

प्रश्न 39 - ज्ञानी, स्त्री से ममत्व कैसे छुड़ाता है?

उत्तर - तत्पश्चात् सम्यग्दृष्टि, स्त्री से ममत्व छुड़ाता है —

'अहो! इस शरीर की स्त्री! इस शरीर से ममत्व छोड़! तेरे और इस शरीर के इतने दिनों का ही संयोग सम्बन्ध था, सो अब पूर्ण हो गया। अब इस शरीर से तेरा कुछ भी स्वार्थ नहीं सधेगा; इसलिए तू अब मेरे से मोह छोड़ और बिना प्रयोगजन खेद मत कर। यदि तेरा रखा हुआ यह शरीर रहे तो रख, मैं तो तुझे रोकता नहीं और यदि तेरा रखा यह शरीर न रहे तो मैं क्या करूँ? यदि तू अच्छी तरह विचार करे तो तुझे ज्ञात होगा कि तू भी आत्मा है और मैं भी आत्मा हूँ। स्त्री-पुरुष की पर्याय तो पुद्गल का रूप है। अतः पौद्गलिकपर्याय से कैसी प्रीति? यह जड़ और आत्मा चैतन्य; ऊँट-बैल का-सा इन दोनों का संयोग कैसे बने? तेरी पर्याय है, उसे भी चंचल ही जान। तू अपने हित का विचार क्यों नहीं करती? हे स्त्री! मैंने इतने दिन तक तुम्हारे साथ सहवास किया, उससे क्या सिद्धि हुई और इन भोगों से क्या सिद्धि होनी है? व्यर्थ ही भोगों से हम आत्मा को संसारचक्र में घुमाते हैं। भोग करते समय हम मोहवश होकर यह नहीं जानते कि मृत्यु आवेगी और तत्पश्चात् तीन लोक की सम्पदा भी मिथ्या हो जाती है; इसलिए तुझे हमारी पर्याय के लिए खेद खिन्न होना उचित नहीं है। यदि तू हमारी प्रिय स्त्री है तो हमें धर्म का उपदेश दे, यही तेरा वैयावृत्य करना है। अब हमारी पर्याय नहीं रहेगी, आयु-तुच्छ रह गयी है; इसलिए तू मोह कर आत्मा को संसार में क्यों डुबोती है? यह मनुष्यजन्म दुर्लभ है। यदि तू मतलब ही के लिए हमारी साथिन है तो तू तेरी जाने। हम तुम्हारे डिगाने से डिगेंगे नहीं। हमने तुझे दया कर उपदेश दिया है। तू मानना चाहे तो मान, नहीं माने तो तेरा जैसा होनहार होगा, वैसा होगा। हमारा अब तुमसे कुछ भी मतलब नहीं है; इसलिए अब हमसे ममत्व मत कर।

हे प्रिये! परिणामों को शान्त रख, आकुल मत हो। यह आकुलता

ही संसार का बीज है। इस प्रकार स्त्री को समझाकर सम्यग्दृष्टि उसे विदा करता है।'

प्रश्न 40 – वह कुटुम्ब-परिवार के अन्य व्यक्तियों को बुलाकर उन्हें क्या सम्बोधन करता है?

उत्तर – अहो कुटुम्बीगण! अब इस शरीर की आयु तुच्छ रही है। अब हमारा परलोक नजदीक है; इसलिए हम आपको कहते हैं कि आप हमसे किसी बात का राग न करें। आपके और हमारे चार दिन का संयोग था, कोई तल्लीनता तो थी नहीं। जैसे सराय में अलग-अलग स्थानों के राही, दो रात ठहरें और फिर बिछुड़ते समय वे दुःखी हों — इसमें कौन-सा सयानापन है? इस प्रकार हमें बिछुड़ते समय दुःख नहीं है, किन्तु आप सबसे हमारा क्षमाभाव है। आप सब आनन्दमयी रहें। यदि आपकी आयु बाकी है तो आप धर्मसहित व रागरहित होकर रहो। अनुक्रम से आप सबकी, हमारी-जैसी स्थिति होनी है। इस संसार का ऐसा चरित्र जानकर, ऐसा बुधजन कौन है, जो इससे प्रीति करे! कुटुम्ब-परिवारवालों को इस प्रकार समझाकर, सम्यग्दृष्टि उन्हें सीख देता है।

प्रश्न 41 – वह अपने पुत्रों को बुलाकर क्या समझाता है?

उत्तर – अहो पुत्रो! आप सब बुद्धिमान हैं, हमसे किसी प्रकार को मोह नहीं करें। जिनेश्वरदेव के धर्म का भली प्रकार पालन करें। आपको धर्म ही सुखकारी होगा। कोई व्यक्ति माता-पिता को सुखकारी मानता है, यह मोह का ही माहात्म्य है। वस्तुतः कोई किसी का कर्ता नहीं, कोई किसी का भोक्ता नहीं है; सब पदार्थ अपने-अपने स्वभाव के कर्ता-भोक्ता हैं; इसलिए अब हम आपको पुनः समझाते हैं कि यदि आप व्यवहारतः हमारी आज्ञा मानते हैं तो हम जैसे कहें, वैसे करें। 'सच्चे देव, धर्म-गुरु की दृढ़ प्रतीति करो; साधर्मियों से मित्रता

करो; पराश्रय की श्रद्धा छोड़ो; दान, शील, तप, संयम से अनुराग करो; स्व-पर भेदविज्ञान का उपाय करो और संसारी पुरुषों के संसर्ग को छोड़ो। यह जीव, संसार में सरागी जीवों की संगति से अनादि काल से ही दु:ख पाता है; इसलिए उनकी संगति अवश्य छोड़नी चाहिए। धर्मात्मा पुरुषों की संगति, इस लोक और पर लोक दोनों में महासुखदायी है। इस लोक में तो निराकुलतारूपी सुख की और यश की प्राप्ति होती है और पर लोक में वह स्वर्गादिक का सुख पाकर, मोक्ष में शिवरमणी का भर्त्ता होता और वहाँ पूर्ण निराकुल, अतीन्द्रिय, अनुपम, बाधारहित, शाश्वत अविनाशी सुख भोगता है; इसलिए हे पुत्रों! यदि तुम्हें हमारे वचनों की सत्यता प्रतीत हो तो करो और यदि हमारे वचन झूठे लगें और इनमें तुम्हारा अहित होता दिखे तो हमारे वचन अङ्गीकार मत करो। हमारा तुमसे कोई प्रयोजन नहीं, किन्तु तुम्हें दयाबुद्धि से ही यह उपदेश दिया है; इसलिए इसे मानो तो ठीक, और न मानो तो तुम अपनी जानो।'

प्रश्न 42 - सम्यग्दृष्टि फिर क्या करता है?

उत्तर - (1) तत्पश्चात् सम्यग्दृष्टि पुरुष, अपनी आयु थोड़ी जानकर दान, पुण्य, जो कुछ उसे करना होता है, स्वयं करता है। (2) तदनन्तर उसे जिन पुरुषों से परामर्श करना होता है, उनसे कर वह नि:शल्य हो जाता है और सांसारिककार्यों से सम्बन्धित जो स्त्री-पुरुष हैं, उनको विदा कर देता है और धार्मिककार्यों से सम्बन्धित पुरुषों को अपने पास बुलाता है और जब वह अपनी आयु का अन्त अति निकट समझता है, तब वह आजीवन सर्व प्रकार के परिग्रह और चारों प्रकार के आहार का त्याग करता है और समस्त परिग्रह का भार पुत्रों को सौंपकर, स्वयं विशेषरूप से नि:शल्य-वीतरागी हो जाता है। अपनी आयु के अन्त के सम्बन्ध में सन्देह होने पर दो-चार घड़ी, प्रहर, दिन आदि की मर्यादापूर्वक त्याग करता है।

तत्पश्चात् वह चारपाई से उतरकर, जमीन पर सिंह की तरह निर्भय होकर बैठता है। जैसे, शत्रुओं को जीतने के लिये सुभट उद्यमी होकर रणभूमि में प्रविष्ट होता है, इस स्थिति में सम्यग्दृष्टि के अंशमात्र भी आकुलता उत्पन्न नहीं होती।

प्रश्न 43 - सम्यग्दृष्टि के किसकी इच्छा होती है ?

उत्तर — उस शुद्धोपयोगी सम्यग्दृष्टि पुरुष के मोक्षलक्ष्मी का पाणिग्रहण करने की तीव्र इच्छा रहती है कि अभी मोक्ष में जाऊँ। उसके हृदय पर मोक्षलक्ष्मी का आकार अंकित रहता है और इस कारण वह किञ्चित् भी रागपरिणति नहीं होने देता है और इस प्रकार विचार करता है — 'रागपरिणति ने मेरे स्वभाव में थोड़ा-सा भी प्रवेश किया तो मुझे वरण करने को उद्धत मोक्षलक्ष्मी लौट जायेगी; इसलिए मैं रागपरिणति को दूर से छोड़ता हूँ।' वह ऐसा विचार करता हुआ अपना काल पूर्ण करता है। उसके परिणामों में निराकुल आनन्दरस रहता है, वह शान्तिरस से अत्यन्त तृप्त रहता है। उसके आत्मिकसुख के अतिरिक्त किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा नहीं है; उसे केवल अतीन्द्रियसुख की वाँछा है और उसी को भोगना चाहता है। इस प्रकार वह स्वाधीन और सुखी हो रहा है।

उसे यद्यपि साधर्मियों का संयोग सुलभ है तो भी उसे उनका संयोग पराधीन होने से आकुलतादायी ही लगता है और वह यह जानता है कि निश्चयतः इनका संयोग, सुख का कारण नहीं है; सुख का कारण एक मेरा शुद्धोपयोग ही है, जो मेरे पास ही है; अतः मेरा सुख मेरे आधीन है। सम्यग्दृष्टि इस प्रकार आननदमयी हुआ, शान्तपरिणामों से युक्त समाधिमरण करता है। ●●

श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, देहरादून के प्रकाशन

1. जैन सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला, भाग-1	40 रुपये
2. जैन सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला, भाग-2	40 रुपये
3. जैन सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला, भाग-3	40 रुपये
4. जैन सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला, भाग-4	40 रुपये
5. जैन सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला, भाग-5	40 रुपये
6. जैन सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला, भाग-6	40 रुपये
7. जैन सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला, भाग-7	40 रुपये
8. जैन सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला, भाग-8 (छहढाला प्रश्नोत्तरी)	प्रकाशनाधिन
9. जिनागमसार	अनुपलब्ध

नोट : कृपया उक्त सभी ग्रन्थ प्राप्त करने के लिए सम्पर्क करें -

— **SHRI KUNDKUND KAHAN DIG. JAIN SWADHYAY MANDIR**
29, Gandhi Road, Dehradun-248001 (Uttarakhand)
Ph. : 0135 - 2654661 / 2623131

— **TEERTHDHAM MANGALAYATAN,**
Aligarh-Agra Road, Sasni-204216, Hathras (U.P.)
www.mangalayatan.com; info@mangalayatan.com

पण्डित कैलाशचन्द्र जैन

जन्म : सन् 1913

देह परिवर्तन : 19 दिसम्बर 2012

जन्मस्थान : ग्राम टिकरी, जिला मेरठ, उत्तरप्रदेश

पिता – श्री मिट्ठनलाल जैन

माता – श्रीमती भरतोदेवी जैन

आपकी प्रारम्भिक शिक्षा, मथुरा-चौरासी एवं तत्पश्चात् जम्बू-विद्यालय, सहारनपुर में हुई। लघुवय में लाहौर में स्वतन्त्र व्यवसाय किया। देश के स्वाधीन होने के पश्चात्, स्वदेश वापिसी और बुलन्दशहर (उ०प्र०) में आजाद ट्रेडिंग कम्पनी के नाम से, पुस्तकों एवं स्टेशनरी का व्यवसाय किया। अपनी सहधर्मिणी श्रीमती विमलादेवी, चार पुत्रियों तथा एक पुत्र के साथ, पारिवारिक जिम्मेदारियों का निर्वहन करते हुए, धर्ममार्ग पर गतिशील रहे।

सिद्धक्षेत्र श्री गिरनारजी की यात्रा के समय, सोनगढ़ में विराजित दिव्यविभूति पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के मंगल साक्षात्कार के उपरान्त, आपके जीवन में आमूलचूल परिवर्तन हुआ। फलस्वरूप, निरन्तर तत्त्वराधना एवं तत्त्वप्रचार ही आपके जीवन के अभिन्न अंग बन गये और सम्पूर्ण देश में तत्त्वज्ञान की पताका फहराने के लिये, आप एकाकी निकल पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री के मंगल प्रवचनों एवं माननीय श्री रामजीभाई दोशी एवं खेमचन्दभाई सेठ की कक्षाओं में जो कुछ सीखा, उसे 'जैन-सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला' के, आठ भाग के रूप में संकलन का कार्य कर, जन-जन को जिनधर्म के गूढ़ रहस्य को साधारण भाषा में प्रस्तुत करने का अपूर्व कार्य किया।

आपकी तत्त्वज्ञान की प्रचार-प्रसार की उत्कृष्ट भावनाओं के फलस्वरूप, उन्हें क्रियान्वित करने हेतु, **तीर्थधाम मङ्गलायतन** के रूप में आपके स्वप्न को आपके परिवार व समग्र मुमुक्षु-समाज ने साकार किया। यहाँ से प्रकाशित मासिक-पत्रिका, **मङ्गलायतन** के आप आजीवन प्रधान सम्पादक रहे।

स्वाभिमानीवृत्ति के साथ ही, निर्भीकता, निस्पृहता, सिद्धान्तों पर अडिगता आदि आपके व्यक्तित्व की उल्लेखनीय विशेषताएँ रही हैं।

आपके उपकारों के प्रति नतमस्तक होते हुए, आपके श्रीचरणों में वन्दन समर्पित करते हैं, और आपकी इस अनुपम कृति को समाज के लाभार्थ प्रस्तुत कर रहे हैं।

जैन सिद्धान्त प्रवेश रत्नमाला (भाग-6)